श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके विशाल रंगमंचपर हरिदास जयन्ती समारोह:—

श्रीनन्दलाल घोष सरोदवादन कर रहे हैं।
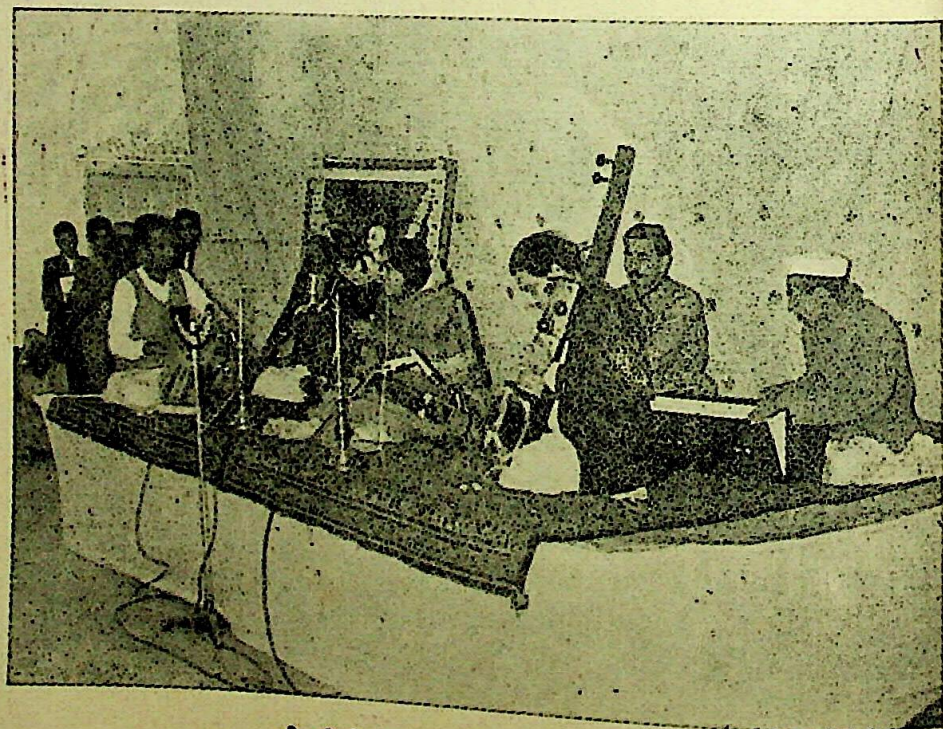
श्रीमती निर्मला अरुण भजन सुना रही हैं।

श्रीकृष्ण-सन्देश

[धर्म, अध्यात्म एवं संस्कृति-प्रधान मासिक पत्र]

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

*

परामर्श-मण्डल

*

प्रबन्ध-सम्पादक

श्रीदेवधर शर्मा

सम्पादक

श्रीव्यथितहृदय

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

*

वार्षिक शुल्क

सात रुपये

आजीवन शुल्क

एकसौ इक्यावन रुपये

वर्ष : ४] जनवरी १९६९ [अङ्क : ६

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : अंजलिके पावन पुष्प

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका दर्शन करके ऐसा लगा कि मैं नृत्यद्वारा जिसकी उपासना करता हूँ, वह साकार होकर मेरे सामने आ गया है। मेरा उपास्य इतना मेरे नजदीक होगा, यह मैं सोच भी नहीं सकता था। और क्या लिखूं ! मुझे आज जो अनुभव होरहा है, मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता।

गोपीकृष्ण (नटराज)

४९३ खार, बम्बई-५२।

हमलोग श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी पावनभूमिके दर्शन हेतु आये। दानदाताओंका प्रयास अत्यन्त सराहनीय है और ऐसी अपेक्षा है कि निकट भविष्यमें ही यह कार्य वृहत् रूप ले लेगा, जिससे कि देशके हिन्दूधर्मके मतावलम्बियोंको निरन्तर प्रेरणा मिलती रहेगी एवं हमारी भारतीय संस्कृति सदाकी भांति अक्षुण्ण बनी रहेगी।

मनमोहनदास विधायक
राजा गोकुलदास महल,
जबलपुर।

हमलोगोंको आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके जन्मस्थानके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ ने इस स्थानका उद्धार करके मथुराके मुखमण्डल को ही उज्ज्वल नहीं किया है, प्रत्युत् समस्त आर्य जातिके गौरव एवं सम्मानको समुन्नत किया है। यहाँके अद्वितीय विशाल निर्माण-कार्यका श्रेय उदार दानदाताओंको तो है ही, पं० देवधरजी शर्माको भी है, जिनके निरन्तर अथक प्रयत्नसे इस पुण्यस्थलका उद्धार हुआ और होता जा रहा है। भविष्यमें यह स्थान अवश्यमेव आर्य जातिकी पताकाको सदैव फहराता रहेगा। गत हजारों वर्षोंसे हिन्दू जातिके गौरवमें जो कलंक लग गया था, आज वह पुनः श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके समुद्धार द्वारा मिट गया है।

मदनलाल आनन्द,
मोहनलाल अग्रवाल,
हिम्मत सिंह,
जितेन्द्रनाथ शर्मा, नई दिल्ली

भगवान् श्रीकृष्णका जन्मस्थान देखकर हृदयमें बड़ी शान्ति हुई। यहाँ आकर बाबू श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाकी स्मृति आ जाती है। उनका देशपर अत्यन्त आभार है। यहाँ जो विशाल भागवत-भवन बन रहा है वह श्रीजयदयालजी डालमिया और उनके परिवारको अमर बना देगा।

बहादुरमल रूंगटा,
पिलानी (राज०)।

It was a memorable experience to visit this beautiful place and to learn at first hand its holy significance as the birthplace of Lord Krishna. We hope some day to return to view the magnificient new temple when it is finished.

THOMAS M. RECKNAGEL
WASHINGTON D. C. (U. S. A.)
(American Consul General, Madras)

We were delighted to have an opportunity to visti the birthplace of Lord Krishna, one of the holiest places in India and one of the places where one of the big religion had his origin.

Dr. & Mrs. N SARTORIUS,
ZAGREB, YUGOSLAVIA.

I was rather very much honoured by the visit of the birthplace of Lord Krishna. Hoping for his blessings. Amen.

AIDAROOS
Director 'BASCO'
South Yemen.

I bow to the Almighty to have given me the splendid opportunity of visiting the birthplace of Lord Krishna. Whom we, in the South, worship daily. The experience is thrilling. A portion of the structure about 6000 years old remains. The Bhagwat Bhawan is under construction. The whole place is kept neat and tidy. I congratulate the organisers. May their endeavour be crowned with success and glory. I am sure devotees will generously cooperate.

N. R. SREENIVAS AIYER
Retired Inspector General Police,
KERALA.

We are very happy to come here. We are interesting about Lord Krishna. We hope that the construction of the temple will be very nice and continue for ever.

RYOKO SATO
MIERO NAGA SHIMA
OSAKI SHINAGAWALCA,
TOKYO (JAPAN)

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

वर्ष ४ | मथुरा, जनवरी १९६९ | अङ्क ६

ज्ञानामृत

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥

—जो गृहस्थ शब्द-रूप-रस आदि विषयोंमें फँसे हुए हैं, वे कामनासे भरे हुए होनेके कारण गीधके समान हैं। वे इस वृक्षका दुःख रूप फल भोगते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रकारके कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहते हैं। जो अरण्यवासी परमहंस विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस वृक्षमें राजहंसके समान हैं और वे इसका सुख रूप फल भोगते हैं। प्रिय उद्धव ! वास्तवमें मैं एक हूँ। यह मेरा जो अनेक प्रकारका रूप है, वह तो केवल छाया मात्र है। जो इस बातको गुरुओंके द्वारा समझ लेता है, वही वास्तवमें समस्त वेदोंका रहस्य जानता है।

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम ॥

—अतः उद्धव ! तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासना रूप अनन्य भक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखी करलो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानीसे जीव भावको काट डालो। फिर परमात्मस्वरूप होकर उन वृत्ति रूप अस्त्रोंको भी छोड़ दो और अपने अखण्डस्वरूपमें ही स्थित हो रहो।

[श्रीमद्भागवत् ११-१२। २३। २४]

•••○•••

बीज और जीवकी तात्त्विक विवेचनाका चित्र

" जीवका वकार उसकी अन्तः स्थताका सूचक है और 'बीज' का बकार बहिष्ठताका। बीज केवल निर्माणका हेतु है, परन्तु जीव निर्माण और प्रमाण दोनों का। ...बीजमें धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु जीव प्रमाणवृत्ति का आधार होने एवं कर्ममें स्वतंत्र होने के कारण धर्माधर्मका आधार बनता है। ...जीव धर्माधर्मके द्वारा ऊर्ध्वगति और अधोगति प्राप्त करता है तो बीज प्रकृतिकी स्वाभाविक धारामें विवश होकर"।

बीज और जीव—एक तात्त्विक विवेचन

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

इस विश्वप्रपंचमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है—ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग पर्यन्त, जो दुःखसे परहेज (परिजिहीर्षा) न करता हो और उससे बचनेका प्रयत्न न करता हो। विवेक दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट हो जाता है कि दुःख अपने स्वरूपके अनुरूप नहीं, प्रतिरूप है। इसीसे बिना माता-पिता, गुरु और शास्त्रकी किसी प्रकारकी शिक्षा प्राप्त किये, बिना सिखाये, बिना संस्कार डाले स्वाभाविक ही मृत्यु, अज्ञान, भय आदिसे अरुचि होती है। विचार करके देखें तो जो दुःख बीत गया उससे छूटनेका कोई प्रश्न नहीं। जो प्रतीत हो रहा है, वह बीतता जा रहा है, जो आने वाला है, वह ज्ञात नहीं है; फिर दुःखसे छूटनेकी इच्छाका क्या अर्थ हुआ ? जिन कारणोंसे दुःख होते हैं उन कारणोंसे छुटकारा। सदाके लिये छुटकारा, सर्वत्रके लिये छुटकारा, सर्वरूपसे छुटकारा अर्थात् आत्यन्तिक दुःखमुक्ति। ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि दुःखका कारण क्या है और उसके निवारणका उपाय क्या है ?

देहके साथही दुःखका उदय होता है। जन्म-मरण दोनोंमें ही दुःखका अनुभव होता है। रोग, वियोग, भोग, संयोग, अनुकूल-प्रतिकूल सब देहके सम्बन्धसे ही होता है। स्वाधीनता-पराधीनता भी इसीके साथ लगी हुई है। धर्म-कर्म-अवस्था-स्थिति सब देहके ही बच्चे-कच्चे हैं। इस देहका सम्बन्ध ही दुःखका हेतु है। सम्बन्ध क्या है, "मैं" और "मेरे" के रूपमें इसे स्वीकार करना। अपने स्वरूपका विवेक करें और अपनेको देहसे अलग समझ लें : 'नाहं', 'न मे'—'न मैं' 'न मेरा'। बस, देहके बारेमें जो कुछ कहा जाय वह कहा जाने दो, जो कुछ हो, सो हो। जैसे रहे वैसे रहे। यह न मैं, न मेरा। मैं द्रष्टा, साक्षी, असंग, उदासीन हूँ, देहके दुःखसे मैं दुखी नहीं, देहके सुखसे मैं सुखी नहीं। देहकी मृत्यु-जड़ता मेरा स्पर्श नहीं करती। इसके रोग और भोग मुझे छूते नहीं। इसके निरोध और विरोधका मुझे कोई अनुरोध नहीं है। इसकी श्रान्ति और भ्रान्तिसे मेरी शान्तिमें कोई विघ्न नहीं पड़ता। अहं और ममके रूपमें देहको ग्रहण करना ही दुःखका उपादान है। 'अहम्भानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्'। इसका अर्थ हुआकि देह दु.ख है और इसको आत्मा अथवा आत्मीयरूपसे ग्रहण करना उपादान है। जब उपादानकारण ही नहीं रहेगा तो कार्य कहां? अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।

अब सुनिये, यह देह कहांसे आगयी? 'मैं-मेरा' छोड़ देनेपर यह कहाँ चली जायेगी? इस देहसे फिर वैसा ही सम्बन्ध नहीं हो जायेगा, इसका क्या आश्वासन है? देह चाहे एक तत्त्व से बनी हो चाहे अनेकसे,जड़ धातुएं इसका घटन या गठन बिना धर्माधर्मके तो हो ही नहीं सकता। धर्माधर्म बनता है कर्मसे। कर्म होता है शरीरसे। फिर तो देहकी सन्तानपरम्पराका कभी उच्छेद नहीं होगा;क्योंकि जैसे पहलेसे विहित और निषिद्ध कर्म होते आये हैं और होते हैं वैसेहो होते रहेंगे। देहसे कर्म और कर्मसे देह। ये दोनों बीज-वृक्षके समान अनादि परम्परासे चले आरहे हैं। तब क्या जीवका जीवन एक बीजका जीवन है? नहीं, नहीं; बीजके जीवनमें और जीवके जीवनमें आकाश-पातालका अन्तर है। जीव अविनाशी चेतन है और बीज विनाशी जड़। आइए, एकबार दोनोंकी तुलना करलें।

आपके हाथमें एक बीज है। क्या आप पहचानते हैं कि यह किस वृक्ष या फलका बीज है? यदि हां,तो इसे देखते ही आप इसके पूर्वरूप और उत्तर रूपकी कल्पना कर सकते हैं। यह बीज कैसे मूल, तनों, डालियों, पल्लव एवं पुष्पोंको पार करता हुआ आया है। अब यह बोनेपर फिर उसीसे मिलता-जुलता रूप ग्रहण करेगा। क्या यह सब बीजमें दीखता है? नहीं, परन्तु है सब बीजमें समाया हुआ। बीजको पृथ्वी, जल, गर्मी, प्रकाश वायु और आकाश सब कुछ चाहिये—खेत, खाद, सिंचाई। वह आर्द्र होगा, फूलेगा, अंकुरित होगा, बढ़ेगा। उसे देश चाहिये, काल चाहिये। यह सब कुछ होने पर भी वह अपने स्वभावके अनुसार ही आकृति, रूप, स्वाद प्रकट करेगा। बीज अनादि परम्परासे चला आ रहा है। अन्तर्बहिः, ऊर्ध्वाधः गति प्राप्त करता रहा है। यह तबतक चलता रहेगा जबतक इसका बीजत्व अग्नि आदिके द्वारा नष्ट न हो जाय।

अब आप एक जीवको अपनी कल्पनाके हाथ पर लीजिये। उसमें एक विशेष प्रकार का जीवत्व है। उसको भी आविर्भाव-तिरोभावके लिये काल चाहिये। गमनागमनके लिये देशकी अपेक्षा है। नानाप्रकारके रूप ग्रहण करनेके लिये द्रव्यकी आवश्यकता है। यह गमनागमन, जन्म मरण और रूप-परिवर्तन कर्मके सम्बन्धसे होते हैं। बिना कर्मके उठना-गिरना, जीना-मरना अथवा जाना-आना नहीं हो सकता। एक ही वस्तु कर्मके बिना अनेक आकारोंमें परिवर्तित नहीं हो सकती। यही कर्म प्राकृत जगत्में विकार या विक्रिया के नामसे कहे जाते हैं जो एक विशिष्ट प्रक्रियासे आकृतियोंकी धाराका निर्माण करते हैं। यही कर्म जीव-जगत्में कर्तृत्वपूर्वक किये जानेके कारण एक विशिष्ट वासनाजन्य संस्कारका रूप ग्रहण करते हैं; जिससे उनकी संज्ञा धर्म अथवा अधर्म हो जाती है। चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जड़त्वकी प्रधानतासे बीज। जीवका वकार उसकी अन्तःस्थताका सूचक है और बीजका बकार बहिष्ठताका। बीज केवल निर्माणका हेतु है; परन्तु जीव निर्माण और प्रमाण दोनोंका। बीजकी शक्तियाँ केवल भौतिक द्रव्यमें रहती हैं और जीव की भौतिक-अभौतिक दोनोंमें। जीवके बहिःकरण और अन्तःकरण दोनों जाग्रत रहते हैं, परन्तु बीजके करण मूर्च्छित होते हैं। बीजमें धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती; परन्तु जीव प्रमाणवृत्तिका आधार होने एवं कर्ममें स्वतन्त्र होनेके कारण धर्माधर्मका आधार बनता है। बीज भोग्यांशप्रधान है तो जीव भोक्त्रंशप्रधान। इसलिए जीवका सुख-दुःख जाग्रत है और बीजका सुषुप्त। जीव अपने धर्माधर्मके द्वारा उर्ध्वगति और अधोगति प्राप्त करता है, तो बीज प्रकृतिकी स्वाभाविक धारामें विवश होकर।

जीव भी प्रकृतिके राज्यमें ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत और अधःस्रोत, तीनप्रकारके होते हैं। प्रायः पहले दोनोंमें जड़त्वकी प्रधानता रहती है, धर्माधर्मका ज्ञान नहीं रहता। परन्तु अधःस्रोतमें प्राकृत उन्नतिकी पूर्णता हो जाती है। वह ऊपरसे भोजन लेकर नीचेकी ओर बढ़ता है। यह मनुष्ययोनि ऐसी ही है। इसमें कर्म, ज्ञान और प्रेमके प्रकट होने की पूर्ण योग्यता है, क्योंकि नवीन-नवीन कर्म करनेके लिये हस्त आदि इन्द्रियोंका, नित्य नूतन आविष्कार करनेके लिये बुद्धिका और आनन्दानुभूतिके लिये प्रेमका विकास स्पष्ट देखने में आता है। इस योनिमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावके अनुभवकी पूर्ण योग्यता है। यह अपने अन्तःकरणमें विद्या एवं कर्मका संस्कार धारण करता है और पूर्ण प्रज्ञाका उदय भी देखनेमें आता है। इसलिये धर्माधर्मका सम्पूर्ण दायित्व मनुष्यमें ही प्रकट होता है।

अधर्माचरण करनेसे देह, इन्द्रिय और मनपर जीवका नियन्त्रण शिथिल हो जाता है; इसलिये उन्हें फिर प्रकृतिके नियन्त्रणमें जाकर उद्भिज, स्वेदज, अण्डज या द्विहस्त-द्विपादसे इतर जरायुज होना पड़ता है। धर्माचरणसे देह, इन्द्रिय और मनकी शुद्धि और नियंत्रणकी वृद्धि होनेपर दैवीराज्यमें प्रवेशकी योग्यता मिलती है। दैवी राज्यमें भी

प्रथमतः ऐन्द्रियक सुखका ही उत्कर्ष प्राप्त होता है, परन्तु एक इष्टकी अनन्यभावसे उपासना करनेपर ऐन्द्रियक सुखसे विलक्षण इष्टदेव सम्बन्धी दैवी सुखका आविर्भाव होता है। धर्मसुखमें अनेक देवता, मन्त्र और विधि-विधानके कारण फलमें भी अनेकता होती है और उपासनामें एक इष्ट, मन्त्र, पद्धति और निष्ठा होनेके कारण भावप्रधान एकाग्र-वृत्ति में भागवत-सुखका आविर्भाव होता है। अन्तःकरणके साक्षी स्वयंप्रकाश चेतनका देश, काल और द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तियोंके निरोधसे यही द्रष्टा आत्म स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तब यह देशकृत गमनागमन, कालकृत जन्म-मरण और द्रव्य-कृत योनिपरिवर्तनसे मुक्त हो जाता है। उपाधियोंसे असंग हो जानेके कारण उस समय यह द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है, परन्तु समाधि टूट जानेपर इसका फिर वृत्ति-सारूप्य हो जाता है। इसलिये वृत्तियोंके नियन्ता द्वारा इसका भी नियन्त्रण और जन्म-मरण आदि शक्य हो जाता है। परन्तु वेदान्तोक्त ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान होनेपर देश, कालादिका बोध अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है, तब जन्म-मरणादि की आत्यन्तिक निवृत्ति हा जाती है। जब तक वृत्तिमें सत्यता और उसके साथ तादात्म्य रहेगी, तब तक भेदकी सत्यता, द्रष्टाकी अनेकता और ईश्वरकी पृथकताको कोई मिटा नहीं सकता। इसलिए जन्म-मरणका प्रवाह बना ही रहेगा। बीजत्व भौतिक होने से अनादि होनेपर भी भौति-काग्नि-नाश्य है; परन्तु जीव चेतन होने के कारण भौतिकाग्नि-नाश्य नहीं है। इसका वृत्तियोंके मूलभूत वासनाबीज संस्कारोंके साथ अविद्यामूलक तादात्म्य है, इसलिए ज्ञानाग्निके द्वारा अविद्याका दाह हुए बिना जीवका जीवत्व निवृत्त नहीं हो सकता। जीव चेतन है, उसकी जीवन सत्ता अनादि और अनन्त है। वह देश, काल और द्रव्यकी कल्पनाको अपनी दृष्टिमें धारण करता है। देश, काल, द्रव्यकी भासमानता बाधित है और चेतनका स्वरूप सर्वथा अबाधित। अनुभवकी प्रणालीमें अपना नास्तित्व नहीं है। कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। इसलिए जीवका वास्तविक जीवन अनन्त और अद्वय है। वह अपनी कल्पनामें ही भासमान कालके साथ तादात्म्यापन्न होकर अपनेको नित्य, देशके साथ तादात्म्यापन्न होकर व्यापक और द्रव्यके साथ तादात्म्यापन्न होकर सर्वात्मक समझता है। वस्तुतः नित्यता, व्यापकता और सर्वात्मकता भी उसके यथार्थ स्वरूप नहीं हैं, कल्पित दृश्यमें तादात्म्यके कारण ही हैं। अधिष्ठान चेतन ही वस्तुतः जीवका यथार्थ स्वरूप है और उसमें द्वैतकी किंचित् भी गन्ध नहीं है। बाधित भासमानता का कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः बीजत्व और जीवत्व आविद्यक हैं। बीजसत्ता और जीव-सत्ता-दोनों ही अखण्ड चिन्मात्र सत्तासे अभिन्न हैं।

अब फिर एक बार पहली बातपर लौट चलें। किसी भी एक वस्तुमें अनेका-कारताका क्या कारण है ? विक्रिया अथवा क्रिया। विक्रिया प्राकृत अथवा स्वाभाविक है; परन्तु क्रिया कर्ताके द्वारा अनुष्ठित है। क्रिया, धर्म अथवा अधर्मसे अनुविद्ध होती है, क्योंकि उसके मूलमें प्राप्ति अथवा परिहारकी इच्छा रहती है। प्राप्तिकी इच्छा शोभना-ध्यासमूलक है और परिहारकी इच्छा अशोभनाध्यासमूलक। इसी इच्छाकी दृढ़ता अदृढ़तासे

विहित प्रतिषिद्ध क्रियाका आचरण होता है। अध्यास अज्ञानमूलक है, इसलिये जबतक अज्ञान रहेगा तबतक अध्यास रहेगा और जबतक वह रहेगा तबतक वासनाकी निवृत्ति न होनेके कारण जन्म-मृत्युका चक्र भी निवृत्त नहीं हो सकता। इस चक्रकी निवृत्तिके लिये वेदान्त-ज्ञानकी अपेक्षा है। यदि वह कालकी प्रधानतासे जन्म-मरण, देशकी प्रधानतासे गमनागमन, द्रव्यकी प्रधानतासे योनिपरिवर्तन, ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित कर्म-फल न होता और अज्ञानी जीव इस फलको भोगनेके लिये बाध्य न होता तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानकी आवश्यकता ही न होती और सम्पूर्ण वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन व्यर्थ हो जाता। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी आवश्यकता ही इसकी निवृत्तिके लिये है।

श्री गौड़पादाचार्यजी महाराजने जिन्हें श्री शंकराचार्यने ब्रह्म सूत्रके शारीरक भाष्यमें 'साम्प्रदायविद्'के नामसे स्मरण किया है और श्री सुरेश्वराचार्यने 'वेदान्तमर्मज्ञवृद्ध'के रूपमें अपनी कृतियोंमें स्थान-स्थानपर समादृत किया है। कहा है:—

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥

आत्माको ब्रह्म अर्थात् देश,काल, वस्तु परिच्छेदरहित सजातीय, विजातीय स्वगतभेद शून्य नजानकर यह बात मानी जाती है कि मैं धर्म-अधर्मका कर्त्ता और उसके फल सुख-दुःखादिका भोक्ता हूँ, तब जन्म-मरण रूप संसारकी वृद्धि ही होती है। जब ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से अज्ञान-मूलक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि बाधित हो जाते हैं तब जन्म-मरण, गमनागमन आदि अनर्थमय संसारकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए तत्वज्ञानके पूर्व पुनर्जन्म और परलोकको न मानना वेदान्तविद्यासे विमुख करनेवाला हैं और घोर अनर्थमें फंसाने वाला है।

यह बात सर्वथा वेदान्तसम्मत और युक्तियुक्त है कि जीवका जीवन अखण्ड चिन्मात्र सत्ता ही है। अज्ञानके कारण ही भेद-भ्रम होता है। भेदमात्र ही प्रातिभासिक है। भेद वस्तुसत्य नहीं है। तत्वतः अपने स्वयं प्रकाश अधिष्ठानसे भिन्न भी नहीं है। अपना आत्मा ही यह अधिष्ठान है। अन्ततः हम आपके अनुसन्धानके लिये एक वेदमन्त्र उपस्थित करते हैं :-

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

मनुष्यको निकम्मा नहीं रहना चाहिए। जो मनुष्य कभी निकम्मा नही रहता, उसकी सब जगह पूछ है। हरामीकी कहीं भी पूछ नहीं। परमात्मा दीनका भी सिरी (साथी) है, मूर्खका भी सिरी है, पापीका भी सिरी है, पर हरामी (कामचोर) का सिरी नहीं है।

"भगवत्प्राप्त संतकी वाणियाँ और उनके उपदेश उन संपूर्ण मनुष्योंके लिए प्रशस्त पथके सदृश हैं, जो भगवत्प्राप्तिके पथपर चल रहे हैं, अथच भगवत्प्राप्तिके लिए समाकुल हैं। संतोंकी वाणियोंके वे प्रशस्त पथ! उनपर अनुभूत प्राणोंके अनुभूत भाव-दर्पण जड़े रहते हैं।"

भगवत्प्राप्ति और भजन

उड़िया बाबा

भावसे ही भगवान् मिलते हैं, वे भावके ही भूखे हैं और शास्त्रोंमें भी भावहीकी प्रधानता है।

बहुतसे लोग गंगास्नान करने तो जाते हैं, किन्तु वे न तो भगवान्का भजन-कीर्तन करते हैं और न संत-महात्माओंके दर्शन ही करते हैं। कोई ताश खेलता है, कोई चौपड़ खेलता है और कोई सिगरेट पीता है। ऐसे गंगास्नानसे कोई विशेष लाभ नहीं।

भगवान्में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्तिका उत्तम उपाय है।

मैं भगवान्का हूं और भगवान् मेरे हैं—इस अभिमानमें मस्त रहना चाहिये।

शास्त्र और आचार्योंका सिद्धान्त है कि रागसे ही राग छूटता है। हवा बादल पैदा करती है और वही उसे हटाती भी है। इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिकी इच्छा सांसारिक इच्छाको काटती है तथा अन्तमें भगवत्प्राप्ति होनेपर वह स्वयं भी शान्त हो जाती है।

जन्म-जन्मान्तरोंसे हमारा विषयोंमें अनुराग हो रहा है, इसीसे भगवान्में अनुराग नहीं होता। भगवान्में पूरा अनुराग हुआ कि संसार छूटा; जैसे निद्राका अन्त और जागना दोनों एक ही साथ होते हैं।

आज-कल लोगोंने भगवान्को सट्टेकी तरह—जिसमें एक ही दिनमें लाखों रुपये आ जाते हैं—समझ रखा है। दो-चार मालाएँ फिराएँ और भगवान् हमारे गुलाम बन जायँ। अरे! दस वर्षमें भी भगवान् मिल जायँ तो भी बड़ी कृपा है! यदि एक जन्ममें भी न मिलें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, हमारे यहाँ तो पुनर्जन्म होता है!

मनुष्य तीन कारणोंसे भजनमें प्रवृत्त होते हैं—(१) जो स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये भजन करते हैं वे निकृष्ट हैं, (२) जो पापक्षयपूर्वक अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करते हैं वे उनकी अपेक्षा अच्छे हैं, और (३) जो अकारण भजन करते हैं वे सर्वोत्कृष्ट हैं। उनका भजन केवल भजनके लिये ही होता है। वे ऐसा किये बिना रह नहीं सकते, इसीलिये भजन करते हैं।

दर्शन करने योग्य तो केवल श्रीभगवान् ही हैं, संसार नहीं। इसलिये भगवान्का ही चिन्तन और भगवन्नामका ही जप करो। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते पीते सब समय भगवान्को ही याद करो। यही असली भक्ति है। जगत्की सब वस्तुएँ असत्, अतएव नष्ट होनेवाली हैं, फिर उनकी प्राप्तिके लिये भक्ति क्यों करते हो? निष्काम भावसे एकमात्र सत्य-सनातन एवं सर्वाधार भगवान्की प्राप्तिके लिये ही भक्ति करो।

भक्ति करनेवाले सदाचारी लोग सांसारिक बातें नहीं सुनते। सांसारिक बातें सुनने से रजोगुणकी वृद्धि होती है। रजोगुणी मनुष्यमें सहनशक्ति नहीं होती, अतः वह बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है। इसलिये प्रत्येक साधकको सांसारिक बातोंसे सावधान रहना चाहिये। जिस समय बड़ीसे बड़ी गाली सुननेपर भी क्षोभ न हो उस समय सत्त्वगुणी वृत्ति, जिस समय काम-क्रोध-लोभादिका आक्रमण हो उस समय रजोगुणी वृत्ति और जिस समय शास्त्र एवं गुरु के वचनोंपर विश्वास न हो उस समय तमोगुणी वृत्ति समझनी चाहिये। भगवान् और भक्तजन इन तीनों गुणों से परे होते हैं।

जिन लोगोंका जप और ध्यानमें चित्त नहीं लगता वे ही प्रश्न पर प्रश्न किया करते हैं। जिनका चित्त जप और ध्यानमें लग जाता है उन्हें प्रश्नोत्तरके लिये अवकाश ही कहाँ है? जिसे भजन-ध्यानमें आनन्द आ गया, और तो क्या जिसमें थोड़ा-सा भी सत्त्वगुण आ गया, वह क्यों किसीसे बातें करने लगा। किसी से पाँच मिनट बातें करनेमें भी उसे दुःख मालूम होगा। वह समझेगा कि उसके अनमोल समयके पाँच मिनट बिना भजनके व्यर्थ ही बीत गये। जिस प्रकार धन कमानेवाले व्यक्तिको बेकार बातचीत करनेके लिये फुर्सत नहीं मिलती उसी प्रकार भक्तको भी भजनसे अवकाश नहीं मिलता।

शास्त्र और गुरुने जो निश्चय किया है, वही ठीक है। उसीके अनुसार काम करना चाहिये।

जिस दिन तुम्हारा मन भजनमें लग जाय, उसी दिन समझ लो कि तुम्हारे लिये संसार नहीं रहा।

विना निःस्वार्थ हुए महात्माओंको और भगवान्‌को बाँधना कठिन है। वे तो प्रेमरूप रज्जुसे ही बाँधनेमें आते हैं।

उपासना करनेसे क्या नहीं हो सकता। परन्तु भगवान्‌के सच्चे भक्त उपासनाकी शक्तिका प्रयोग अपने किसी स्वार्थके लिये नहीं करते। स्वामी हरिदासजी जब वृन्दावनमें रहते थे तो नित्यप्रति गोपालसहस्रनामके सौ पाठ किया करते थे। उनका यह नियम लगातार पन्द्रह वर्षतक रहा। पीछे जब वे भगवान्‌पुर आये तो उन्हें कुष्ठ रोग हो गया। यदि वे चाहते तो उसे दूर कर सकते थे। किन्तु उन्होंने इस तुच्छ शरीरकेलिये ऐसा नहीं किया। करते भी क्यों? उन्हें तो उस कुष्ठमें भी भगवान्‌के स्पर्शकी आनन्दानुभूति होती थी।

जब तक हृदयमें श्रीभगवान् नहीं आते, तभी तक उसमें काम-क्रोधादि बसे रहते हैं। जहाँ हृदयमें भगवान्‌का वास हुआ कि फिर वे कहाँ ठहर सकते हैं? फिर तो वे उसी दम भाग जाते हैं।

हृदयमें तो भगवान्‌का ध्यान हो, सब शरीरमें पुलकावलि हो जाय, जिह्वासे नाम का जप हो, नेत्रों से अश्रुधारा बहती हो। इससे बढ़कर भक्तका और क्या सौभाग्य हो सकता है?

मैं एक बार व्रजके जंगलमें विचर रहा था। वहाँ एक महात्माके दर्शन हुए। मैंने उन महात्माजीसे पूछा कि अपना कुछ अनुभव कहिये। तब उन्होंने बड़े प्रेमसे हाथ उठाकर यह दोहा कहा—

हाथ उठा के कहत हूं, कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल।

सत्संग, भगवत्सेवा, श्रीमद्भागवत्‌का पाठ और भगवन्नाम कीर्तन—ये चारों भगवत्प्राप्तिके साधन हैं।

भजन निरन्तर होना चाहिये। यदि उसमें एक दिनका भी व्यवधान होगा तो कई दिनोंकी सञ्चित पूँजी नष्ट हो जायगी। इसलिये नियमित भजनमें कभी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

यदि भगवान्का चिन्तन करतेहुए हमें संसार की चीजें अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिये कि अभी हम अपने लक्ष्यसे कोसों दूर हैं। जब संसारकी बढ़ियासे बढ़िया चीज को देखकर भी हमें घृणा हो तभी समझना चाहिये कि कुछ भगवदनुराग हुआ। भगवद्भक्त को तो सभी चीजें तुच्छ दिखायी देनी चाहिये।

भक्ति और ज्ञानकी प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है, परन्तु हमें मालूम नहीं होती। एक माला जपनेपर भी भक्ति बढ़ती है। यदि कहो कि ऐसा मालूम क्यों नहीं होता, तो इसका कारण यह है कि जीव अत्यन्त भूखा है; इसीसे उसे थोड़ा भजन करनेपर उसका कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। जैसे कोई अत्यन्त भूखा हो तो दो-चार ग्रास खानेपर उसकी भूख शान्त नहीं होती।

जब दिन-रात भजन ही भजन हो तभी कुछ हो सकता है। दिन-रात भजन करना तो मानो रात-दिन विषयोंसे युद्ध करना है।

हम हँसना-रोना भी तो नहीं जानते। यदि हमें हँसना-रोना आता तो हम प्रभुके लिये हँस-रोकर उन्हें प्राप्त कर लेते और इस प्रकार हमारा काम बन जाता।

भजन करनेवालेका जब तक राग नहीं होता, तबतक उससे सच्चा भजन नहीं हो सकता। किन्तु राग पहले ही नहीं होता, अतः आरम्भमें तो नियम से ही भजन करना चाहिये। ऐसा करते-करते ही भजनमें राग होता है। किन्तु ऐसा भी तभी होता है, जब आदरपूर्वक नियमका पालन किया जाय। बेगार समझकर जैसे तैसे नियम पूरा करनेसे कुछ नहीं होता। भजन श्रद्धा-पूर्वक, सत्कारसहित, निरन्तर और दीर्घकाल पर्यन्त होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि भजनके नामपर बेगार ही टाली जाती है। जब भजन का राग होता है तो सब विषवत् हो जाते हैं।

जबतक किसी काममें लगन नहीं होती तब तक कुछ नहीं हो सकता। संत श्रीनारायणस्वामीजी कहते हैं—

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायण जा लगन में, तन मन डारै खोय॥

जब तक मनमें भगवान् नहीं आते तभी तक वहाँ काम-क्रोधादि रह सकते हैं। भगवान्के आनेपर भला काम-क्रोधादि कैसे ठहर सकते हैं. फिर तो वे एक दम भाग जाते हैं।

भगवद्भजनसे ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, तथा भजनसे ही अष्टसिद्धियाँ और निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त होती है।

यदि तुम भक्ति मार्गमें हो तो यह सब भगवान्की सृष्टि है, इसलिये तुम किसीको निन्दा नहीं कर सकते और यदि ज्ञानमार्गमें हो तो यह अपनी ही सृष्टि है, फिर अपनी ही बुराई तुम कैसे करोगे ? अतः दोनों ही मार्गों में दूसरेकी निन्दा करनेका अवकाश नहीं है।

एक बार कुछ आदमियोंके साथ मैं ऋषिकेश गया था। वहाँ झाड़ियोंमें एक उच्च-कोटिके संत रहते थे। वे वड़ और पीपलके पत्ते इकट्ठे कर कोयलेकी स्याही और सरकंडे की कलमसे उनपर भगवन्नाम लिखते रहते थे। वे कहीं जाते-आते नहीं थे। एक दूसरे महात्मा उनकेलिए क्षेत्रसे भिक्षा ले आते थे। मैंने उनसे पूछा कि भजन करनाकब छोड़ दे?उन्होंने कहा, 'जब भजनकरनेकी शक्ति न रहे।' अर्थात् जब इष्टदेवमें मन इतना डूब जाय कि कोई चेष्टा करनेकी शक्ति न रहे। यह है भजनकी अवधि। आज कल तो बिना कुछ किये ही कृतकृत्य हो जाते हैं।

भजन करनेवालोंमें जो काम-क्रोधादि दिखायी देते हैं यह सब अन्नदोष है, और कुछ नहीं।

तुमसे यदि पाठ किये बिना न रहा जाय तो समझो पाठ ठीक है, जप किये बिना न रहा जाय तो जप ठीक है और कीर्तन किये बिना न रहा जाय तो यही असली कीर्तन है। यदि ध्यान तुम्हारा आहार होगा तो यह आहार कम हो जायगा। जब श्रीभगवान्का अनु-राग होगा तो भूख कहाँ लगेगी?

दुनियाका चिन्तन छूटा और भगवच्चिन्तन होने लगा कि मुक्ति हुई।

भगवत्स्मरण और भगवद्भक्तोंका संग करना ही भक्तोंका मुख्य कर्त्तव्य है।

भगवान्में प्रेम हो जाने पर मन, वाणी, श्वास और शरीर सभी स्थिर हो जाते हैं।

श्रीबंगालीबाबा कहा करते थे कि वृन्दावनमें मेरे साथी एक महात्मा थे। वे भजनमें विघ्न न पड़े इसलिये हर समय पाखानेमें बैठे रहते थे। इससे सब लोग उनसे घृणा करने लगे और उनके द्वारा अधिक से अधिक भजन होने लगा। भजनमें मन लग जानेपर तो दुर्गन्ध भी सुगन्धमें परिणत हो जाती है।

तीर्थरेणु

जिसका चित्त ब्रह्ममें रमण करता है, उसीको आनन्द है, निश्चय ही आनन्द है। तुम हम 'अल्प' को लेकर सोचते हैं, आनन्द मिल गया। परन्तु वह आनंद नहीं है। आनन्द के आभासका लेप लगा लेनेसे तो दुःख ही होगा।

नाम-कीर्तन करो। दूसरी चिन्ता जितनी ही जोर से मन में उठे, उतने ही घने-घने उच्च स्वरसे नाम-कीर्तन करो। भय कट जायगा।

नाम-जप करो। सब कुछ मिलेगा। जब नाम-जप में रुचि न हो, तब समझना पाप है। साधु-संग में नामकी महिमा श्रवण करो।

"भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् 'सौन्दर्य' हैं। उनकी संपूर्ण लीलाओंमें सौन्दर्य-सिन्धु समाहित होकर कल्लोल-सा करता है। भक्तों और प्रणय-विभोर संत कवियोंने प्रगट रूपसे उसकी अनुभूति प्राप्तकी है। उनकी वह अनुभूति आज भी उनके शब्दों, वाणियों और रचनाओंमें देखनेको मिलती है।"

सौन्दर्य विभूतिके प्रतीक—श्रीकृष्ण

श्रीजगन्नाथमिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार

भगवान् श्रीकृष्णका जो प्रतीक भक्तोंने लोकके सम्मुख रखा है और भक्तिका जो प्रकृत आलंबन उन लोगोंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, सामर्थ्य और शील-इन तीनों विभूतियोंका आकर्षण इस प्रकार निहित है कि उसके वर्णनसे कौन मोहित नहीं होगा !

सौन्दर्य, सामर्थ्य और शील-ये तीनों सगुणोपासनाके सोपान हैं। इनमेंसे जैसी मानवकी चित्तवृत्ति है, वह सौन्दर्य और अनन्त रूपराशिके सामीप्य-लाभकी दिशामें विशेषरूपसे प्रवृत होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण तो सौन्दर्यके अवतार ही थे। सौन्दर्यको अपनेमें विलीन किये हुए वे अनन्त शक्तिशाली थे और उनके विराट्रूपमें यह सारा विश्व समाहित है। ग्रन्थकारोंने उन्हें सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी और सर्वगुणातीत कहकर उनकी अभ्यर्थना की है। इन मान्यताओंके सन्दर्भमें यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान्के अनेकरूप हैं पर यह भक्तोंकी अपनी भावनापर निर्भर करती है कि वे उनकी जिस रूपमें चाहें उपासना करें।

सौन्दर्यालंकार विभूषित श्रीकृष्णकी मनमोहक छवि भक्तोंको विशेष प्रिय रही है। भगवान्‌का आविर्भाव सौन्दर्यसे समन्वित सम्पूर्ण जगत्‌को आह्लादित करनेवाला हुआ। श्रीविष्णुपुराणमें इस प्रकार कथन है :—

"उस दिन सभी दिशाएँ अत्यन्त निर्मल हो गईं। संतजनोंको परम संतोष हुआ। प्रचण्ड वायु शांत हो गयी। नदियाँ अत्यन्त स्वच्छ हो गईं। समुद्रगण अपने घोषसे मनोहर बाजे बजाने लगे। गन्धर्व राज-गान करने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। जनार्दनके आविर्भूत होनेपर पुष्पवर्षा करते हुए मेघगण मन्द-मन्द गर्जना करने लगे। भगवान् खिले हुए कमलदलकी सी आभावाले चतुर्भुज और वक्षःस्थलमें श्रीवत्स चिह्न सहित उत्पन्न हुए।"

भगवान्‌के शृंगार और सौन्दर्यकी जो विमल धाराएँ भक्ति-प्रेरित भक्तोंने बहायी हैं, उनमें आज भी विश्व-भारती निमज्जनकर अपने सुख सौभाग्यको सराहती है। भगवान्‌के सौन्दर्य विभूतिको यदि भक्तोंने अपनाया है तो सौन्दर्यने भी उन्हें अपना एक मात्र आश्रय-स्थान माना है। भगवान् और भक्तोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है और रहेगा।

भक्तोंने और भक्त कवियोंने भगवान् श्रीकृष्णको अनेक रूपोंमें देखा है, पर उनका सौन्दर्यरूप अधिकांशकी दृष्टिमें प्रमुख रहा है। सूरदासको कृष्णलीला प्रिय है। इस लीलाके मंचपर सौन्दर्यकी लोकप्रियता ही भावोंको उत्प्रेरणा देती है। बाल-लीला के प्रसंगमें श्रीकृष्ण माखनचोरी करते हैं। इस चोरीमें सूरदासने अद्भुत सौन्दर्यका दृश्य देखा—

गोपाल दुरे हैं माखन खात।
देखि सखी, सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात॥
उठि अवलोकि ओट ठाढ़ी है, क्यों न नयन झप देत।
चकित चहूँ चितवत लै माखन और सखन को देत॥

माखन चुराते समय भी उनमें शोभाका निखार है। चोरी करते हुए उनकी शोभा देखनेकी उत्सुकता हृदयमें हिलोरें लेती है। चोरी पकड़नेकी बात की बातको लेकर शोभा निरखनेका आनन्द-उठाना ही श्रेयस्कर है।

मीराके गिरिधर नागर माधुरीमूरतिवाले हैं। वह श्रीकृष्णके रूपपर आसक्त होकर उनके प्रेमकी दिवानी हो गई थी। श्रीकृष्णके रूपके आकर्षणसे वह उनमें जन्म-जन्मान्तरके लिए विलीन हो गई थी। उसने श्रीकृष्णके मनमोहक सौन्दर्यको अपने जीवनमें उतार लिया था और उसी सौन्दर्यको अपनी आंखोंमें बसाकर वह भवसागर को पार कर गई —

तू नागर नन्द कुमार, तोसों लग्यो नेहरा।
मुरली तेरी मन हर्यौ, बिसर्यौ ग्रिहव्यौहार॥
जब तें स्रवननि धुनि परी, ग्रिहअँगना न सुहाइ॥
पारधि ज्यूं चूकै नहीं, मृगी बाँधि दई आइ॥

हितहरिवंश के चरित नायक रसिकशिरोमणि राधावल्लभ रास प्रिय हैं। श्रीकृष्ण की रासलीलाको सौन्दर्य-लीला कहना अनुचित नहीं होगा। इस लीला-काल में तो सौन्दर्य कला का प्रस्फुटन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। अपने सौन्दर्यको वाणी का रूप देकर भगवान्ने बाँसुरी बजायी। इसवाणी-आकर्षणने गोपियोंके मनको प्रेम-मय विह्वल बना दिया —

कृष्णस्तु विमलं व्योम शरच्चन्द्रस्य चन्द्रिकाम्।
तदा कुमुदिनीं फुल्लामामोदित दिगन्तराम्॥
वनराजिं तथा कूजद्भृंगमाला मनोहराम्।
विलोक्य सह गोपी भिर्मनश्चक्रे रतिंप्रति॥
बिना रामेण मधुरमतीव वनिता प्रियम्।
जगौ कलपद शौरिस्तारमक्र कृत क्रमंभ।
रम्यं गीतध्वनिं श्रुत्वा सन्त्यज्यावसतथादा।
आजग्मुस्तरिता गोप्योयत्रास्ते मधुसूदनः॥

माधुरी मुरलीकी ध्वनिने मोहन मन्त्रका काम किया। ऐसी श्रीकृष्ण लीलाएँ सौन्दर्यके सागरमें गोते लगानेके लिये वरबस खींच ले जाती हैं। मन बेसुध होकर अपने आपको खो बैठता है।

श्रीकृष्ण का रसमय रूप भागवत्, हरिवंश पुराण आदि गन्थों द्वारा पोषित और गीत गोविन्द, विद्यापति, सूर आदि के द्वारा पल्लवित होकर समस्त लोकमें इस प्रकार सघन रूपसे छा गया है कि उनकी दूसरी लीलओंकी ओर भक्त गण विशेषरूपसे उन्मुख नहीं हुए।
श्रीमच्छंकराचार्य्य की उक्ति है :—

भजे व्रजैकमंडनं समस्तपाप खंडनं।
स्वभक्तचित्त रंजन सदैव नन्दनन्दनम्।
सुपिच्छगुच्छ मस्तकं सुनादवेणुहस्तकं
अनंगरंगसागरं नमामि कृष्णनागरम्॥
मनोजगर्वमोचनं, विशाललोल लोचनं।
विधूतगोप शोचनं नमामि पद्म लोचनं
करारविन्दभूधरं स्मितावलोक सुन्दरं।
मन्देद्रमानदारणं नमामि कृष्ण वारणम्॥

श्रीकृष्णकी सौन्दर्य मूर्तिका यह उत्कृष्ट वर्णन निश्चय ही श्रीकृष्ण-प्रेमियोंके लिये आकर्षण-सूत्र होगा। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ सौन्दर्य मूर्तिमान है। सौन्दर्य श्रीकृष्ण का दास है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य-संकेतसे विश्वमें सौन्दर्य प्रादुर्भूत हुआ है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार :---

गोपी मधुरा, लीला मधुरा युक्तं मधुरा भुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपते रखलं मधुरम्॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा स्टष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलित मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

श्रीकृष्णकी सौन्दर्य-लीलाकी व्यापकता इतनी गहन रही है कि भक्त गणों ने धर्मसंस्थापक, योगी श्रीकृष्ण, गीता वक्ता योगेश्वर श्रीकृष्ण, राजनीतिके नायक श्रीकृष्ण, पार्थ सारथी श्रीकृष्ण और परम त्यागी श्रीकृष्णकी मूर्तिको सौन्दर्य-समृद्ध कृष्ण समझनेमें आह्लादमयी भक्तिका तारतम्य स्थापित किया है —

महामायाजालं विमलवनमालं मलहरं
सुभालं गोपालं निहितशिशुपालं शशिमुखम्
कलातीतं कालं गतिहतमरालं मुररिपुं
सदा तं गोविन्दं परमसुखकन्दं भजत रे॥

निर्मल वाणी

सज्जनो ! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठा कर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्की बराबरी करनेवाला इस चराचर जगत्में कोई नहीं है। फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है ? वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

श्री भगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्त कालमें उनकी विस्मृति न हो; क्योंकि सैकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारने से शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरण कालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है, वात, पित्त, कफ से कंठ अवरुद्ध हो जाता है और नाना प्रकारके सांसारी पाशोंसे जकड़े रहने के कारण मनुष्यको बड़ी घबड़ाहट होती है। ऐसे समय में भगवान् की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है।

—श्रीमध्वाचार्य

"मानवजीवनका उच्चतर लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। 'भगवत्प्राप्ति किस प्रकार हो'–इस प्रश्नका उत्तर गीता द्वारा निर्देशित 'स्वकर्म-फल त्याग' है। 'स्वकर्म फल त्याग' में भगवान्‌की सर्वव्यापकताकी अनुभूतिके साथ ही साथ विश्वात्मकता का तादात्म्य भी है। जीव गीता-निर्देशित मार्ग पर चलकरही अपने लक्ष्यको सिद्धि कर सकता है।"

गीतामें विवेचित भक्तियोग

डा० श्रीजयकिशनप्रसाद खंडेलवाल, एम० ए०, पी० एच० डी०

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी व्याख्या की गई है। क्रमसे छः-छः अध्यायोंके तीन षट्क माने जाते हैं। प्रथममें कर्मयोग, द्वितीयमें भक्तियोग और तृतीयमें ज्ञानयोगकी विशद चर्चा हुई है। जिस षट्कमें जिस योगका प्रधानतासे वर्णन हुआ है, उसीके आधारपर उसका नाम रखा है। इसमें कोई सुनिश्चित कार्यक्रम नहीं है, वरन् प्रमुख प्रवृत्तिके आधारपर ही नामकरण किया गया है। तात्पर्य यह कि इन षट्कोंमें प्रत्येकमें केवल एकही योगका वर्णन नहीं है, दूसरेकी भी चर्चा हुई है, किन्तु प्रधानता एककी ही है।

यहाँ हमारा प्रतिपाद्य दूसरा षट्क अर्थात् भक्तियोग है। यह षट्क सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक चलता है। इस षट्कमें प्रसङ्गवश कहीं-कहीं दूसरे विषयोंकी चर्चा भी हुई है, किन्तु प्रधानतासे भक्तियोगका ही विशद वर्णन है, अतः इसे भक्तिप्रधान माना गया है। इस षट्कके प्रमुख प्रतिपाद्य भक्तियोगकी पराकाष्ठा एवं पूर्णता एवं परि-

समाप्ति या वैज्ञानिक विश्लेषण बारहवें अध्यायमें प्राप्त होता है। इसमें अनेक प्रकारके साधनों सहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्‌भक्तोंके तैंतीस लक्षण निरूपित किये हैं–अद्वेष्टा, मैत्रः ,करुण, निर्ममो, निरहंकारः,समदुःखसुख, क्षमी, संतुष्टः, सततंयोगी, दृढ़निश्चयः, मयिअर्पितमनोबुद्धि, न उद्विजते लोकः,लोकात् न उद्विजते,हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः, अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गतव्यथः, सर्वारम्भत्यागी, न हृष्यति, न शोचति, नकांक्षति, शुभाशुभपरित्यागी, समः शत्रौ च मित्रे, समः मानापमानयो, समः शीतोष्ण, समः-सुखदुःखेषु, सङ्गविवर्जितः, तुल्यनिन्दास्तुति, मौनी, अनिकेतः, स्थिरमतिः।

इसप्रकार बारहवें अध्यायके तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें तक भगवान्‌ने अपने प्रिय ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं। बारहवें अध्यायके बीसवें एवम् अंतिमश्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उपरोक्त तैंतीस लक्षणोंवाले ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर श्रद्धापूर्वक वैसा ही साधनकरनेवाले भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। यह क्लाइमैक्स है, परिसमाप्ति है, चरमसीमा है, निष्कर्ष है, निचोड़ है—

> ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
> श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

वेदान्तमतके प्रतिष्ठापक आदि जगद्‌गुरुशंकराचार्यने इस श्लोककी वेदान्तपरक (ज्ञानपरक) व्याख्या करते हुए लिखा है—"जो सन्यासी इस धर्ममय अमृतको अर्थात् जो धर्मसे ओतप्रोत है और अमृतत्वका हेतु होनेसे अमृत भी है, ऐसे इस "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा ऊपर कहे हुए उपदेशका श्रद्धालु होकर सेवन करते हैं—उसका अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे परायण अर्थात् "मैं पूर्वोक्त अक्षरस्वरूप परमात्माही जिनकी निरतिशय गति हूँ" ऐसा यथार्थ ज्ञानरूप उत्तम भक्तिका अवलम्बन करनेवाले मेरे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

'प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' इसप्रकार जो विषय सूत्ररूपसे कहा गया था, यहाँ उसकी व्याख्या करके 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इस वचनसे उसका उपसंहार किया है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि"इस यथोक्त धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेशका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य मुझ साक्षात् परमेश्वर विष्णुभगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है, इसलिए विष्णुके प्यारे परमधामको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मुमुक्षुपुरुषको इस धर्मयुक्त अमृतका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।"

आदि जगद्‌गुरुकी व्याख्याका हिन्दी अनुवाद ऊपर प्रस्तुत किया गया।

बारहवें अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रखा है। 'भक्ति' आत्मा और परमात्मामें

योग करानेवाली शक्ति है। इस भक्तिका और उसको धारणकरनेवाले भक्तके स्वरूप की झलक तो दूसरे श्लोकमें ही मिल जाती है—

मय्यावेश्यमनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

अर्जुनने पूछा कि हे प्रभु! जो अनन्य प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे (११वें अध्यायमें निरूपित 'मत्कर्म' आदि ५५वां श्लोक देखिए) निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म को ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन है? इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् कहते हैं कि मुझमें चित्त एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं। वे उत्तम श्रद्धासे युक्त होकर उपासना करनेवाले श्रेष्ठतम योगी हैं,यह मैं मानता हूँ। क्योंकि वे लगातार मुझमें ही चित्त लगाकर रात-दिन व्यतीत करते हैं, अतः उनको युक्ततम कहना उचित ही है। ऐसा आदि जगद्गुरुशङ्कराचार्य का भी अभिमत है।

इसीलिए बारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको मन-बुद्धि अपनेमें अर्पण करनेकेलिए आज्ञा दी और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

इसप्रकार मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेवाला शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है। पुनः भगवान् कहते हैं कि यदि ऐसा न कर सके तो अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेकेलिए इच्छा कर (१२।९)। भगवान्की प्राप्तिकेलिए भगवान्में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापनकरनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। पुन: भगवान् कहते हैं कि यदि अभ्यासमें भी तू असमर्थ है तो केवल मेरेलिये कर्म करनेमें ही परायण हो जा (मत्कर्मपरमो भव १२।१०)। इसप्रकार मेरे लिए कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो जाएगा।

पुनः भगवान् कहते हैं कि यदि यह साधनभी करनेमें असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्यागकर (१२।११)।

इस प्रकार भगवान्ने अर्जुनसे पहले मन बुद्धि अपनेमें लगानेकेलिए कहा,पुनः अभ्यास योग बताया,तदन्तर भगवदार्थ कर्मकरनेकेलिए कहा और अन्तमें सर्व कर्म फल त्यागकेलिए

आदेश दिया। यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है (क्योंकि सभीका फल भगवत्प्राप्तिही है),न एककी अपेक्षा दूसरा सुगम ही है,वरन् यहाँ अभिप्राय यह है किजो साधन एकके लिए सुगम है, वही दूसरेकेलिए कठिन हो सकता है। अतः सम्भवतः यह चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारी-भेदसे ही किया गया प्रतीत होता है।

मुझे बारहवें अध्यायके 'भक्तियोग' के वर्णनमें बारहवाँ श्लोक विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत होता है—

श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

इस अध्यायके छठेसे आठवें श्लोक तक अनन्यध्यानका फलसहित वर्णन किया। फिर नवेंसे ग्यारहवेंतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरे–इस प्रकार चार साधनोंका वर्णनकिया। चार साधनोंमें अन्तमें 'सर्वकर्म फलत्याग' रूप जिस साधनका वर्णन किया, अब इस बारहवें श्लोकमें 'सर्वकर्मके फलत्याग' की स्तुति करते हैं। इस श्लोककी शांकरभाष्यकी हिन्दी व्याख्या इसप्रकार है—"निःसन्देह ज्ञान श्रेष्ठतर है। किससे ? अविवेकपूर्वक किए हुए अभ्यास से,उस ज्ञानसे भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है और इसी प्रकार ज्ञानयुक्त ध्यानसे भी कर्म-फलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार पहले बतलाये हुए विशेषणोंसे युक्त 'कर्मफल त्याग'से तुरन्तही शान्ति हो जाती है,अर्थात् हेतु सहित समस्त संसारकी निवृत्ति तत्काल हो जाती है। कालान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती।"

यहाँ साधनोंका तुलनात्मक महत्त्व वर्णित है। अभ्यास और ज्ञान-दोनोंही भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, किन्तु परस्पर तुलनाकरनेपर ज्ञानही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्-प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता,जितना कि अभ्यास हीन विवेकज्ञान। इसी प्रकार ध्यान और अभ्यास रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ज्ञान श्रेष्ठ सिद्ध होता है। क्योंकि यदि कोई ध्यान और अभ्यासके बिना केवल विवेकज्ञानसे भगवत्प्राप्ति रूपी सिद्धि प्राप्त करना चाहता हैतो इसकी अपेक्षा बिना विवेकज्ञानके किया हुआ ध्यानही सुगमतर एवं शीघ्र प्राप्ति करानेमें सहायक सिद्ध हो सकता है। ध्यान द्वारा चित्त स्थिर हो जाएगा और उससे मालिन्य एवं चांचल्यका नाश हो जाएगा। ऐसी शुद्धि केवल विवेकज्ञानसे संभव नहीं। अतः ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बताया। भक्तिमें भी ज्ञानसे ध्यानका महत्व अधिक है।

पुनः सर्वकर्मफलत्यागको ध्यान से श्रेष्ठ बतलाते हैं। ध्यान परमात्म प्राप्तिमें सहायक है,किन्तु कामना और आसक्तिका नाश हुए बिना परमात्म प्राप्ति सहज नहीं। अतः फलासक्ति के त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहींहो सकता,जितना कि ध्यानके बिना भी कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग।

इस प्रकार उपरोक्त बारहवाँ श्लोक भक्तियोगके तत्वका सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन ही नहीं किया गया, वरन् कर्मफलके त्यागका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिएही यह विवेचन है। कर्मफलत्यागका अर्थ है वैराग्य। भक्तिमें संसारसे वैराग्य और भगवान्से राग आवश्यक है। अतः उपरोक्त श्लोक भक्तियोगकी आधारभूमि प्रस्तुत करता है। जब तक संसारमें वैराग्य और भगवान्में अनन्य प्रेम नहीं होगा, भगवान्की प्राप्ति नहीं हो सकती। और संसारसे वैराग्यके हेतु सर्वकर्मफलत्याग अत्यन्त आवश्यक है। भगवान्की अनन्य प्रेमाभक्तिमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग सहायक हैं, किन्तु यह अनन्य प्रेमाभक्ति सुदृढ़ तभी होगी, स्थिर तभी हो सकती है, जब भक्त सर्वकर्मफलत्यागी हो जाय। क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश जब तक नहींहो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहजही नहीं हो सकती।
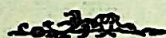
तुम से दूर नहीं रह पाता

तुम तज दो तो बात और है,
मैं तज दूँ तो कहाँ ठौर है,
तुम समझो चाहे परवशता,
मेरा मन तुम बिन अकुलाता,
तुमसे दूर नहीं रह पाता।

किस बल पर अब दूर रहूँ मैं,
कैसे निठुर वियोग सहूँ मैं,
है सामर्थ्य न इतनी मुझमें,
विरह दाह अब सहा न जाता,
तुमसे दूर नहीं रह पाता।

तुम हो रमे हुए तन-मन में,
मेरे प्रतिपल के चिन्तन में,
है नित चेतन-वास तुम्हारा,
तुमसे मेरा जीवन नाता,
तुम से दूर नहीं रह पाता।

तुमको पाता हूँ पग पग पर,
तुमको लखता हूँ, हर मग पर,
पाकर के आधार तुम्हारा,
नवजीवन के खेल रचाता,
तुमसे दूर नहीं रह पाता।

तुम चाहे मुझको ठुकराओ,
या प्रतिक्षण यों हीं बिसराओ,
मेरे रोम-रोम में तुम हो,
तुमसे भिन्न न कुछ भी पाता,
तुमसे दूर नहीं रह पाता।

त्रिलोकीनाथ व्रजबाल

"भारतीय संतोंमें कबीरकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि के प्रति किसे आस्था न होगी ? कबीरकी दृष्टि बाह्यसे दूर—अन्तर्आंगनको ही बुहारनेमें सदा तन्मय रही। उनकी रचनाओंमें शब्दों, उक्तियों, और सूक्तियोंका प्रयोग भी 'अन्तर्आंगन' के ही अनुकूल हुआ है। स्वभावतः उनमें बाह्यके लिए वैचित्र्य और वैपरीत्य तो है ही। इसी 'वैचित्र्य' और 'वैपरीत्य' को बहुतसे लोग "उल्ट बासियाँ" कहते हैं। पर क्या वे "उल्टवासियाँ" हैं ?"

संत कबीरकी दृष्टिमें—'मरण'

श्रीपरशुराम चतुर्वेदी

'मरण' शब्दको हम लोग साधारणतः 'मृत्यु' शब्दके किसी एक पर्यायके समान समझ लिया करते हैं। तदनुसार हम इसका अभिप्रायभी प्राय: उस अंतके रूपमें ही मान लेते हैं, जो जीवन-कालकी समाप्तिकी ओर इंगित करता है। उस दशामें यह जन्म-ग्रहण की ठीक विपरीतवाली स्थितिका बोध कराने लगता है। इसका महत्त्व भी वस्तुतः किसी घटनाविशेषसे अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि जन्म तथा मृत्यु-ये दोनों उक्त अवधिके दो विभिन्न छोरोंके परिचायकसे बन जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों उसके क्रमशः आरंभ और अंतके केवल सूचकमात्र ही ठहराये जा सकते हैं। अतएव, यदि 'मृत्यु' तथा 'मरण' इन दोनोंका तात्पर्य एक और अभिन्न समझ लिया जाय, उस दशामें यह स्वाभाविक है कि जीवनका वास्तविक मूल्य निर्धारित करते समय इनमेंसे दूसरेको भी हम कोई गौणस्थान ही देना चाहेंगे। परन्तु संत कबीर साहब हमें इस प्रकारका व्यवहार करते नहीं प्रतीत होते,प्रत्युत वे

मरणको कभी-कभी एक ऐसे रूपमें भी चित्रित करने लगते हैं जिसका मूल्य तत्वतः जीवन से भी अधिक बढ़ जाता जान पड़ता है। उनकी उपलब्ध रचनाओंके अंतर्गत हमें उक्त दोनों प्रकारके प्रयोगोंवाले उदाहरण मिलते हैं, जिस कारण हमें वहाँ प्रायः किसी विरोधाभासका भी भ्रम हो जा सकता है।

कबीरका कहना है कि "जन्म-मरणका ध्यान रखते हुए हमें अपने निकृष्ट कर्म छोड़ देने चाहिये तथा जिस मार्गसे चलना हमारे लिए श्रेयस्कर हो सकता है, उसे ग्रहण करके ही हमें अग्रसर होना चाहिए।" वे मानवशरीरके विषयमें हमें बतलाते हैं कि 'यह केवल धूलको समेट करके बना ली गई किसी पुड़ियासे भिन्न नहीं कहला सकता, क्योंकि चार ही दिनोंमें यह फिर एक बार 'खेह' की 'खेह' मात्र हो जाया करता है, यह अपने उस कृत्रिम रूपमें कभी स्थायी नहीं रह पाता।" "हमारा यह शरीर पानीका बुलबुला जैसा है। इसके नष्ट हो जाते कभी अधिक विलम्ब नहीं लग पाता।" अतएव, हम देखते हैं कि "जिन लोगोंने हमें उत्पन्न किया था, वे तो मरही गये, हम भी अब यहाँ से चल देने ही वाले हैं तथा जो कोई हमें आगे मिलते हैं, उनकीभी गठरी बँधी हुई दीखती है।" वास्तव में, "हमारी काया कच्ची अर्थात् क्षणभंगुर मात्र है। हमारा मन भी सदा चंचल ही रहा करता है, किन्तु ऐसी दशामें भी हम निश्चिन्तसे बने रह कर काम करते रहा करते हैं जो एक बड़े आश्चर्य की बात है। इसलिए काल हमारी मूर्खतापर हँसा करता है।" "उस कालकी दृष्टिमें हमारे सामनेका समस्त संसार किसी 'सावज' खरगोश के समान है, जिसके लिए वह सदा 'सांझ'-'सवेरे' उद्यत रहता है। उसकी सहायतामें हमारे मनोविकार बराबर वन में लगाई गई आगका काम करते हैं। माया-मोहके चारों ओरसे घेराव पड़ जाते हैं तथा हमारा लोभ पवन बनकर उक्त ज्वालाको प्रदीप्त करता रहा करता है, जिससे उसका प्रभाव व्यापक बन जाता है।"

परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी संत कबीर साहब इसके कारण कुछ भी विचलित होते नहीं दीख पड़ते। वे अन्यत्र इसके पीछे निहित रहस्यके ऊपर फिर विचार करने लगते हैं तथा वे वस्तुस्थितिके विषयमें अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, "तो फिर कौन मरता है और कौन जन्म लिया करता है तथा किसके लिए कहा जाता है कि उसे स्वर्ग वा नरक मिला करता है? पंचतत्त्व 'अविगत' का उत्पन्न किया हुआ है, जिसमें प्राणोंका निवासमात्र हो जाता है तथा उनके छूटते ही वे फिर एक बार अपनी पूर्णकी स्थितिमें आ जाते हैं, यहाँ तक कि उनसे बने हुए शरीरका कोई चिह्न तक भी नहीं रह जाता। जिस प्रकार जलके भीतर कोई घड़ा हो और घड़े के भीतर भी जल भरा हो तथा उस घड़ेके फूट जाने पर उसका जल ऊपर वाले जलमें मिल जाय, उसी प्रकार हम देखते हैं कि आदिमें हो, मध्यमें हो, चाहे अंतमें हो-सर्वत्र तो शून्य ही शून्य है। अतएव, 'कर्माकर्म का प्रभाव किसके ऊपर पड़ा करता है। इसका विचार करते रहना ठीक नहीं, न इसके कारण शंकित बना रहना ही उचित होगा।" इसके सिवाय "जब 'मांटी' में 'मांटी' मिल

गई तथा जब पवनमें पवन फिर प्रवेश कर गया तब तो, इसके अनुसार हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि बाह्य 'रूप' मात्र मरा है वा नष्ट हुआ है और यही सबके देखनेमें भी आता है।"

तात्पर्य यह कि इस प्रकार विचार करने पर हम केवल शरीर मात्रका अन्त हो जाने को ही 'मरण' की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि वह तो 'मृत' कहे जानेवालेका अधिक से अधिक एक रूपगत प्रतीक ही ठहराया जा सकता है। यह स्वयं उसका 'मरण' नहीं, न इसके कारण उसके सम्बन्धमें किसी प्रकार भला वा बुरा लगनेका काई प्रश्न ही उठ सकता है। संत कबीरसाहबके अनुसार "वास्तिक 'मरण' उसे कहा जा सकता है, जो किसी को अपने सद्गुरुके प्रसादस्वरूप उपलब्ध हुआ करता है तथा जो उसे अपने प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेपर सदा 'मीठा' वा आनन्ददायक भी जान पड़ता है। उस 'मरण' की स्थितिमें न तो कोई 'कर्ता' रह जाता है, न कोई 'करनी' रह जाती है। इसी प्रकार, उस दशामें वह 'नारि' माया मर जाती है, जो अनेक प्रकारके स्वांग रचा करती थी। अपना 'आपा' मर जाता है,'मान' मर जाता है तथा सारे प्रपंचोंके बल जागृत होते रहने वाला 'अभिमान' भी मर जाता है और इस ढंग से मरने पर वह (मनुष्य) राममें रमता हुआ 'अविनाशी' बन जाता है।" वे इस बातको इस प्रकार भी कहते हैं कि "मेरी समझमें जो रामवाले जलाशयमें उक्तप्रकारसे प्रवेश कर गए उनके वैसे 'मरण' को हम साधारणतः 'मूवा होना' भी नहीं कह सकते। जैसा कभी-कभी बिना सोचे समझे अनुमान कर लिया जाता है।

इस प्रकार के 'मरण' की अपनी विशेषता, मानवशरीरके नष्ट हो जाने में न पायी जाकर वस्तुतः मानव मनवाले उपर्युक्त चंचलत्वके सर्वथा दूर हो जाने तथा उसके साम्यके किसी संतुलित स्थितिमें आ जाने में ही ढूंढ़ी जा सकती है, जिसकी ओर प्रायः यथेष्ट ध्यान देना कभी आवश्यक नहीं समझा जाता, न उसके लिए कभी कोई यत्न ही किया जाता है। संत कबीर साहबका कहना है कि "किसी साधकके लिए ब्रह्मकी उपलब्धि भी केवल उसी दशा में सम्भव हुआ करती है, जब अपने उक्त मतवाले मनको मार कर और उसे नन्हा-नन्हा करके पीस तक लिया जाय, जिससे उसके स्वभावमें आमूल परिवर्तन आ जाय।" "इस मनको इस प्रकार 'पटक कर पछाड़ देना' चाहिये जिसके फल-स्वरूप अपने 'आपा' का भाग किंचित् भी नहीं रह जाय, वह सर्वथा पंगुल-सा बन जाय तथा सिवाय 'पिव-पिव' करते रहनेके उसे और कुछ भी सूझ न सके।" संत कबीर साहबके अनुसार वैसी दशामें कभी काल द्वारा कवलित कर लिये जानेकी कभी कोई संभावना ही नहीं रह जाती।" ऐसे 'मरण' को हम जीवनसे भी अधिक महत्त्व दे सकते हैं। यदि वह उपर्युक्त शरीर नष्ट हो जाने की दशा के पहले ही, इस प्रकार संभव हो जाय किन्तु ऐसा स्वयं पहले मर कर ही जाना जा सकता है, उसी दशामें इस कलिकाल के अन्तर्गत जीते जी अजर-अमर भी बन जाया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संत कबीर साहब द्वारा परिचित कराया गया उक्त द्वितीय कोटिका 'मरण' न केवल उपर्युक्त प्रथम कोटिवालेसे नितांत भिन्न है, अपितु

इसे कोई एक विलक्षण पुनर्जन्म तक भी ठहराया जा सकता है। उन्होंने इसी कारण इसे कभी-कभी मन के जीवन 'मूवा' हो जाने अथवा 'जीवन मृतक' बन जानेकी जैसी संज्ञा दी है। इस 'मरण' के परिणामस्वरूप अस्तित्वमें आ जानेवाली दशाके निजी अनुभवका वर्णन वे अपने एक पद में इस प्रकार भी करते हैं। वे कहते हैं कि "जब स्वांति ('स्व' का अंत) वाली दशामें आगया तथा इस प्रकार 'गोव्यन्द' को जान पाया तो मेरे लिए अब सब कहीं कुशल ही कुशल जान पड़ रहा है। शरीर धारण करने के कारण जो अनेक प्रकार की उपाधियां होती रहा करती थीं, वे उलट कर 'सहज-समाधि' के रूप में परिणत हो गईं तथा स्वयं जम तक भी मेरे लिए 'रामवत्' प्रतीत होने लग गया। अब मेरे सारे दुख भूल से गए और मुझे सुखमें विश्रान्ति मिल गई। मेरे शत्रु से लगनेवाले मित्र जान पड़ने लगे। जिन्हें सावत (शाक्त) माना करते थे, वे अपने अनुकूल जंचने लगे तथा 'आपा' को 'आप' का रूप दे देने पर तीनों ताप भी दूर हो गए। अब तो जिस मन को मैं चंचल पाता था, वह स्वयं 'जीवत मूवा' होकर 'सनातन' बन गया। अब डरन-डराने की कोई बात नहीं।"

इस सम्बन्धमें यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि संतकबीरके एक वरीय समसामयिक सूफ़ी कवि मुल्ला दाऊद ने भी 'मरण' के विषय में अपने कुछ विचार प्रकट किये हैं जिनका हमें ऐसे प्रसंग में स्मरण हो आना स्वाभाविक है। उन्होंने अपने प्रेमाख्यान 'चंदायन' के नायक लोरिक द्वारा उनकी नायिका चंदा के प्रति कहलाया है, "जब तक जीव शरीर में रहता है, तब तक कोई स्वर्ग तक किसी प्रकार नहीं पहुँच सकता। अपना जीव गवां लेने पर ही वह ऐसा कर पाता है। हे चंदा, मैं भी मर कर ही इस स्वर्ग (तुम्हारे धौरहर) पर आ सका हूँ। यदि जीव रहे तब तो किसी प्रकार के भय से भयभीत होऊं। मैं तो तभी मर गया, जब मैंने तुम्हें पहले पहले पहल देखा था और आज तुम्हें देखकर मैं पुनः विशेष रूप से मर गया हूँ। हे चंदा, यदि तुम मृत को मार रही हो अथवा मारना चाहती हो तो इससे क्या होगा ? तुम्हारा रूप देखकर और जीव देकर ही मैं तुम्हारे पास आया, इसका कारण या तो केवल ये मेरे नेत्र हैं जिनसे तुम्हें देख रहा हूँ अथवा मेरा जीव सासें भर ही ले रहा है।"

परन्तु इस प्रकार के 'मरण' तथा संत कबीर साहबवाली तद्विषयक उपर्युक्त धारणा की तुलना करने लगने पर हमें कुछ अंतर का भी बोध हो सकता है जो वस्तुतः संतमत और सूफ़ीमतके आधारभूत प्रमुख सिद्धान्तों में भिन्नता पाये जाने की ही दशा में संभव होगा।

•••०O०•••

भक्त-वाणी

जो हृदय कामना एवं लोभ से बार-बार बिंधता रहता है, वह यम-नियमादि अष्टांग योग मार्ग से वैसी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता, जैसी भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके श्रवण-कीर्तन रूप भजन से प्राप्त होती है।

"अतीत भारतके पृष्ठोंमें व्रजके गौरव की कथाएँ किस भारतीयको प्राणवान् नहीं बनातीं ! व्रजके टीलों, स्तूपों, खँडहरों और बावड़ियोंमें जो पुरातन कथारत्न छिपे हैं, उन्हें यदि सामने प्रस्तुत किया जाय तो आजके इतिहासकारको भी अपनी कृतियोंके पृष्ठ फाड़ देने पड़ेंगे। विचारणीय प्रश्न है—कौन इस प्रकारका सत्साहस करे ?"

जब व्रजके टीले बोले

श्रीभगवान्‌सहाय पचौरी 'भवेश' एम० ए०

पृष्ठ भूमि:—जन्म समयकी नौबत और शहनाईका पहले मन्द-मन्द स्वर उठकर, धीरे-धीरे मन्द्र-मन्द्रतर होता हुआ बुझता है। तदनन्तर धीरे-धीरे शोक और करुणामिश्रित वाद्य-ध्वनियाँ पृष्ठभूमिमें एक करुणा कलित प्रभावछोड़ती हुई अवसान लेती हैं। शून्यका सा वातावरण बनता है, निर्जन और एकाकी।

पुरुष कंठ—कैसा विधान है नियतिका ! एक बार मंगल कलशोंपर अक्षत, नैवेद्य, रोरी, वताशे चढ़ते हैं। नौबतें घुरती और शहनाइयाँ थिरकती हैं। पर जब मानव-मन आनन्दमें विभोर, सब कुछ भूलकर नाचने लगता है तो क्रूर कालका अट्टहास गूँज उठता है, शहनाइयोंका स्थान हाहाकर और चीत्कार ले लेता है। श्मशान जाग उठते हैं, नैराश्यकी आँधी प्रबल हो उठती है।

नारी कंठ—हर्ष अपने राज्यको समेट लेता और करुणा सशरीर मानवके मनोराज्यकी स्वामिनी बन जाती है और फिर मानव वैराग्यकी मूर्ति बनकर दर्शनके गुरु गहन पृष्ठोंमें अपने आपको डुबो देता है। पर आशावान् भावी उसे यहाँ भी स्थिर नहीं रहने देती। क्षणभंगुरता विधिका पहला आदर्श वाक्य है। मनुष्य फिर जन्मता, जीवनके गीत-गाता हुआ उठता और गिरता, गिरता और फिर उठता है। उसने हार कब मानी है भावी से !

पुरुष कंठ—जहाँ कभी गगनचुम्बी राजप्रासाद थे, वहाँ आज श्मशान हैं और जहाँ कभी श्मशान थे, वहाँ आज जीवन लहराता है। "खेतोंके निकेत बनते हैं और निकेतोंके फिर खेत"–कदाचित् यह ध्रुवसत्य है।

नारी कंठ—जहाँ तुम खड़े हो, इस ऊँचे, उजाड़, एकाकी, ध्वस्त और कंकाल-इस भूखंडपर, न जाने इसका क्या इतिहास है ! इसका सारा अतीत इसके गर्भमें है। काश, इस टीलेको वाणी दे दी जाती।

[सहसा निर्जनमें सांयें-सांयें कर तीव्र वायु चलनेका शब्द होता है। भूकम्पके समय होनेवाली धरतीके गर्भसे एक गूंज, एक गम्भीर प्रतिध्वनि होती है। टीला सुगबुगाने लगता है। प्रेतात्माकी सी, घनगर्जन जैसी वाणी उठती है।]

प्रथम वाणी—हाँ ठीक है। काश, मैं तुम्हें बता पाता अपना अतीत, अपना इतिहास ! काश, मैं तुम्हारी भाषामें बोल पाता तो मेरे अन्तर्मनकी कितनी गुत्थियाँ, कितनी कुंठाएँ, कितने रहस्य सुलझ झाते। मानव, तुम क्या जानोगे मेरे अन्तर्मन को ! तुम आधुनिक भौतिकवादी युगके सम्भ्रान्तमना भावुक प्राणी जो ठहरे ! तुम पर अवकाश भी कहाँ है हमारी गाथाएं सुननेकेलिए और तुम सुनोगे भी क्यों यह सब, तुमने मुझे कंकाली टीलेकी संज्ञा दी है न ! यह ठीक ही है। मैं एक कंकाल मात्र ही तो रह गया। हजारों वर्षोंके वर्षातपशीतने मेरी मांस, मज्जा और मेरे रक्तको सुखा डाला है। पर मेरा कंकाल जीवित है। जब मैं युवक था, तो मेरा अन्तःप्रदेश 'बुद्धं शरणं गच्छामि, सघं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि' के पावन मंत्रोंसे गूंजा करता था ! सर्वास्तिवादी आचार्यों की तपश्चर्यासे मेरा अन्तर्मन शुद्ध-पवित्र होता था। वास्तवमें मेरा नाम मिहिरविहार रखा गया था। मेरा एक भाई मुझसे दूर, आजकलके कामवन कहे जानेवाले स्थानपर अब भी मूक खड़ा है।

द्वितीय स्वर—अरे मिहिर तुम जाग गये हो मेरे बन्धु ! बड़ी गहरी नींद सोये रहे पुरातन प्रेत ! तुम्हें हुविष्क, चेतिय, छुतक, कुमारसंभव, अपानक, क्रोष्टिकीय, रोषिक, ककाटिका, प्रावारिक, यशा और खंडविहार जगा-जगा कर हार गये। पर तुम थे कि करवट भी न ली।

प्रथम स्वर—हाँ, अपानक, मैं जाग गया हूँ। इन दो मानवोंने मेरे भीतरकी आगको कुरेद डाला है। मेरे हृदयपर हथौड़ेसे पड़ रहे हैं, मेरे चेतन और अवचेतनमें संघर्ष सा होरहा है। तुम चले जाओ अपानक ! हजारों वर्षोंके मौनको आज तोड़ने दो मुझे, तोड़ने दो। आज मुझे पतितपावनी मथुरा, पापप्रक्षालिनी कलिंदजा से लेकर लवणासुरकी नगरीतक विस्तारमें फैले चैत्यविहारोंके सोते खंडहर जैसे पुकारने लगे हैं और पुकारने लगा है मुझे वह अतीत, जब योगयोगेश्वर कृष्णने यहीं मेरे समीप क्रूर कंसके कारागारमें जन्म लेकर कंस का वध किया था। देखो न, वह कंसटीला इसको साक्षी दे रहा है

द्वितीय स्वर—और मेरे भाई, कंसके कारागारकी क्रूरताभरी कहानीको भूल ही गये ! लो देखो कारागारकी आत्मा कटरा केशवदेवके मन्दिरकी चोटीपर खड़ी तुम्हें मूक देवकी की भांति निहार रही है। उसके उत्तर, दक्षिण, और पश्चिममें योजनोंके विस्तार में फैले शत शत टीले कुछ कहनेको आतुर हैं।

प्रथम स्वर—शान्त, शान्त, अपानक, शान्त रहो। तुम सोजाओ मेरे मित्र ! इस पुरातन व्रजप्रदेशके इन सब टीलोंको मत जगाओ, मत जगाओ। यदि ये जगे तो सृष्टि एक बार फिर काँपने लगेगी। फिर कहानी कंसके कारागारकी करुणा तक ही सीमित नहीं रह जायगी, फिर तो श्रीमद्भागवत, महाभारत, गीताका पन्ना-पन्ना खुल जायगा। शत्रुघ्न सुत शूरसेन, यदु, भीम सात्वत, यादव और अन्धक वृष्णि जग उठेंगे। जरासंध, शिशुपालकी चतुरंगिणी पुनः अपने रथचक्रोंके घर-घर नादसे व्रज महीको रौंद डालेगी। मत दिलाओ याद उस अतीतकी मुझे।

द्वितीय स्वर—तो क्या हुआ। यही न होगा कि मेरे कृष्णको पुनः एक बार उन दुर्दान्त दस्युओंको—कंस, चाणूर, कुवलया, अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर आदिको गहरी चिर निद्रामें सुला देना होगा। पुनः एक बार महाभारतका संचालन करना होगा चक्रसुदर्शनधारीको। यशोदाका लाल गया ही कहाँ है, वह तो यहाँके कण-कणमें व्याप्त है। तुम डरते क्यों हो मिहिर !

प्र० स्व०—तुम नहीं समझे अपानक, मैं इससे नहीं डरता कि कृष्ण चक्र सँभालें। मैं डरता हूँ कि कहीं आज यह हुआ तो धरती काँपने लगेगी, गगनकी छातीमें दरारें पड़ जायंगी और आजका यह भोला मानव त्रस्त हो जायगा। आज मानवताको शान्तिकी आवश्यकता है, रक्तपातकी नहीं।

द्वि० स्व०—ठीक है। परन्तु गौतमबुद्ध और जिनवर महावीरकी करुण शान्तवाणी भी तो इन्हीं टीलों से निकलेगी। अशोक और कनिष्क, राजुकुल, शोडास, कुषाण, तिम तक्षम, वाशिष्क, हुविष्क और वासुदेव भी तो यहीं कहीं सोते हैं। तुम भूल गये क्या उनके

राज्यकालमें हुई मथुराप्रदेशकी समृद्धिको ! अरे, पुरातत्वकी ये मूर्तियां, उत्कीर्णांक फलक, शिलालेख, सरदल, मृत्तिकाभांडोंके साक्ष्य नहीं देखते ।

प्र० स्व०—अपानक, बड़े भोले हो । तसवीरका तुम्हें केवल एक रुख ही दिख रहा है । जरा उस ध्रुव टीलेसे तो पूछ लो, उसका अन्तःप्रदेश कितना कठोर हो रहा है ! करुण-संवेदनाकी अतिशयता मनको जड़ बना देती है । बालक ध्रुव को प्रभु-प्राप्तिके लिये उसने अपने हृदयमें स्थान दिया था और फल उसे मिला निरन्तर धूधूकर जलते रहने का । उसी कालसे वह निरन्तर जल रहा है और जलता रहेगा। अच्छे काम का यही तो परिणाम होता है और उस अम्बरीष टीलेको तो देखो । अम्बरीषकी तपोभूमि, महर्षि व्यासकी साधनाभूमि, अष्टछाप कवियों और स्वयं वल्लभाचार्य परिवारकी तपोस्थली—आज उजाड़ है । क्यों ? क्योंकि वे तत्त्वचिन्तक ऋषि थे ।

द्वि० स्वर—तत्वचिन्तनका प्रसाद तो हम भी पा रहे हैं मिहिर भाई ! पर आशावाद ही प्रगतिका दूसरा नाम है । मुझे सब स्मरण है । कुषाणोंके विजेता भारशिव नाग, यौधेय, कुणिंद, अर्जुनायन आदि और गुप्त वंश, मौर्यवंश, वर्द्धनवंश, यशोवर्मन, गुर्जर प्रतिहार, राष्ट्रकूट, गाहडवालके समय से लेकर दिल्ली सल्तनत, मुगलकाल और आधुनिक काल तकके वात्याचक्रों के घात-प्रतिघातोंने मेरी मिट्टीको भी कठोर बना दिया है । परन्तु आपबीती सुनाना कोई अनाचार तो नहीं । तब सभी को जग जाने दो बड़े भाई !

प्र० स्वर—जगना प्रगति और उत्कर्षका लक्षण है । परन्तु इन खण्डहरोंके जगने का क्या परिणाम होगा, जानते हो ! इनकी वाणीसे नये तथ्योंके जो उष्ण निर्झर फूटेंगे, उन्हें सहन करनेकी अल्पज्ञ मानवमें क्षमता नहीं । वह जो इतिहास लिख चुका है, उसमें कदाचित् वह परिवर्तन करनेको प्रस्तुत नहीं । उसका दम्भ उसे सैकड़ों कोस पीछे घसीट रहा है । जब मानवताको कुछ नया न मिले तो वृथा अपनी छातीपर फावड़े, कुदाल बेलचे और घन तुड़वाने से क्या लाभ ! अब तक इस स्वार्थ-बुद्धि मानवने किया ही क्या है हमारे लिये और सबके लिये ! कल ही की तो बात है कि शाक्यखंड (सोंख) के टीलेने कुछ कहना आरम्भ किया था कि विदेशों तकके यन्त्र उसका वक्ष विदीर्ण कर उठे । आखिर वह घायल होकर रह गया, अभी उसके घाव नहीं भरे । जाबालि वन आदि के टीलोंके कष्टोंकी भी तो यही करुण कथा है । अतः भाई मेरे पड़े रहो अपने अन्तर में अपनी टीसको दबाये । बोलो मत ! आज के संसारमें अधिक सुनने की क्षमता नहीं है ।

द्वि० स्वर—अच्छा तो न सही । हमें भी तो अपने गौरव-गरिम व्यक्तित्वका अभिमान है । हम निरन्तर मन्वन्तरोंतक अपनी तपश्चर्यामें साधनालीन रह सकते हैं । तब तक मानवको उद्बुद्ध हो लेने दो । (धीरे-धीरे सर सर सर सर सर करके धरतीमें गम्भीर ध्वनि होती है । फिर शान्ति) ।

——:※:——

"हमारा आजका जीवन ऐसी विषमताओं-द्वन्दात्मक स्थितियोंका जंजाल बनता जा रहा है कि हम समझ ही नहीं पा रहे हैं कि हम कहाँ जा रहे हैं, किस ओर जा रहे हैं! हमारी दशा उस विक्षिप्तकी सी है, जो केवल चलता रहता है, भागता रहता है। प्रश्न यह है कि यह विचार शून्य विक्षिप्तता अब किस प्रकार रुके? उत्तर है 'धर्म' को 'धर्म' मानकर चलनेसे-अहंके मोहको छोड़कर 'स्व' को 'धर्म' के अनुसार अचरित करने से।"

धर्म ग्लानि

श्रीगोविन्द शास्त्री एम. ए.

हम भाग्यवान् हैं, क्योंकि हमें वे सब सुख-सुविधायें प्राप्त हैं, जो हमारे पूर्व पुरुषोंको प्राप्त नहीं थीं—यह यथार्थ बोध नहीं है, युगबोध है। युगबोध इसलिये कि इस युगपर, तदनुसार हमारी चिन्तन पद्धति और वाह्य परिवेश पर भी सामयिक साधनोंका प्रभाव पड़ा है। यही कारण है हमारे इठलानेका, हमारी भाग्यवत्ताका। कभी-कभी यह सोचकर हमें दुःख भी होता है कि हम आजके पचास वर्ष बाद क्यों नहीं उत्पन्न हुए? स्पष्ट है कि आनेवाले वर्ष स्थूल प्रकृतिमें क्रान्तिकारी परिवर्तनकी सम्भावना लिए हुए हैं और हमें यह विश्वास है कि वह आने वाला युग वास्तवमें जटिल, पर दीखनेमें सम्पन्न होगा। मनुष्यकी कुछ नैसर्गिक और स्वयं सिद्ध विशेषतायें होती हैं, जो उसे सतत चिन्तन करने और सुन्दरतर जीवन जीने की दिशामें गतिशील बनाये रखती हैं। वह स्वयं निर्माण करता है और विनाशकी भूमिका बनाता है। भस्मासुरकी तरह तपस्या करके सिद्धि प्राप्त

करता है और संवेगोंके वशीभूत होकर आत्मनाश भी कर लेता है। यह विनाश, विनाश होकर भी सृजनका अग्रदूत होता है, इसलिये सृष्टिकी सरण-शीलता अक्षुण्ण बनी रहती है। गर्भ का जीवन जब समाप्त होता है, तो नये जीवनको अवकाश मिलता है। इसी तरह इस जीवन के परिसमापन के साथ किसी इतर जीवनका प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः विनाश–निर्माण एक ही वस्तु के दो पक्ष होते हैं, उनसे संसार पूर्ण होता है, क्रियावान् बना रहता है।

हर युगका अपना आत्मबोध होता है और हर उपलब्धिका अपना पुरस्करणीय और तिरस्करणीय पक्ष होता है। ये दोनों ही पक्ष उसके साथ अनिवार्य रूपसे जुड़े रहते हैं। हमारा भाग्यवान् होना भी एक ऐसा ही व्यंग्य है। अधुनातम फैशनको अथवा संभ्रान्तताको हमने 'विज्ञान' की संज्ञा दी है। इस संभ्रान्तताके परिवेश को आत्मसात् करने की चेष्टामें हम इतनी प्रगति कर चुके हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें इतनी दूर बहक आये हैं कि न इसको भूल सकते हैं, न वापस लौट सकते हैं। इस विज्ञानसे अथवा भौतिक उपलब्धियोंसे आज का व्यक्ति इस तरह लिथड़ गया है कि उसे स्वाभाविक भी अस्वाभाविकसा लगने लगा है। मुख्य रूपसे इस वैज्ञानिक युगके परिवेशने हमारी स्थूल दृष्टि का विकास किया है, इसलिये विज्ञान शब्दका अन्तर्हित विराट् भी क्षुद्र हो गया है। असीमित अर्थका वाचक होकर भी आज का विज्ञान स्थूल जगत्के वृत्त में बँध गया लगता है। यदि आज कोई सभ्य जगत्के प्रतिनिधि से यह कहे कि यह सारा विश्व उसी में समाहित है तो यह सत्य उसे अविश्वसनीय और उपहासास्पद लगेगा, क्योंकि उसने बाह्य पर ही विश्वास करना सीखा है, अन्तर और आत्मापर नहीं। यह दृष्टिकोण इस विज्ञानका वरदान है।

इस बहिर्मुखी दर्शनने व्यक्तिको अपने आप से पृथक् होकर देखने की जिज्ञासा से अभिभूत कर दिया है और वह अनेकमें एकता देखने के ज्ञानको भूलकर अनेकता में अनेकता देखने का अभ्यस्त हो गया है। इस विज्ञान ने तत्वकी जो परिभाषा स्थिर की है, उसके मूल में यही भिन्नवाद किंवा विखण्डनवाद है अन्यथा भारतीय तत्व पांच हैं, एक दूसरे के पूरक और संघटनसे सृष्टिके कारण। दूसरे अर्थमें तत्वका बोध्य तद्रूपता या तद्भावता होती है और इस अर्थ में वह तत्व इन पंच महाभूतोंकी गरिमा से भी बढ़ जाता है। यह सब प्रेय साधना है और इससे विराग होना भी एक सहज प्रक्रिया है। यद्यपि आज की भौतिक उपलब्धियोंसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न निरी आलोचना ही कोई रचनात्मक कार्य कर सकती है पर आलोचना भी कोई अर्थ रखती है। किसी भी वस्तु को सुन्दरतर रूप देना और पथ को प्रशस्त करना इसी आलोचनाका फल है। जहाँ तक आज की साधन-सुविधाका सम्बन्ध है उससे विमुख नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है, सर्व सुलभ है, फिर भी उसके अपकर्षोंके स्थानपर यदि हम किन्हीं उत्कर्षोंको व्यवहार योग्य बना लें–भले ही वे पुरातन ही हों तो हमारा जीवन समन्वयवादी बनकर स्वर्ण में सुगन्धकी विशेषतासे युक्त हो जायगा।

जिस तरह बाह्य घटनाओंका एक क्रम चलता है, उसी तरह उन घटनाओंकी कारणमूलक सूक्ष्म भावनाओंका भी एक चक्र चलता रहता है। ये समस्त स्थूल परिवर्तन उन सूक्ष्म भावनाओंका प्रतिफलन हैं, जिनसे व्यक्ति प्रभावित होता है। हमारे मनीषियोंने स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मको अधिक शक्तिमान् माना है—मानना भी चाहिये था। उन्होंने जो कुछ भी कार्य रूपमें चाहा, उसे भावना जगत्‌में प्रविष्ट करानेका सक्षम उपाय सोचा और यही कारण है कि भारतका धर्म 'धारणीयता' अथवा व्यवहारका विषय था और वह सामान्य जनके लिये भी एक आदरणीय ही नहीं, पालनीय बना रहा। धर्म के इस पालन के कारण उज्ज्वलतम नैतिकताके दर्शन और उदाहरण यहां–इस देशमें मिलते हैं। उस धर्म की सर्वोत्कृष्टताका प्रमाण गीताका यह उद्घोष है, जो स्वयं पार्थसारथि करते हैं–

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारते।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहाम्॥'

अर्थात् हमारे अवतार धर्मसे ऊपर नहीं हैं, न वे यही कहते हैं कि वे जो आचरण करेंगे, वही धर्म होगा, बल्कि धर्मतो एक सनातन सत्य है। उसमें जहाँ शिथिलन आने लगता है, वहीं उस पूर्णपुरुषकी मोहनिद्रा टूट जाती है और वह पार्थिव रूप धर कर हमारे बीच में आजाता है। उसका जीवन धर्मकी उन शृङ्खलाओं को तोड़नेके लिये नहीं होता, वरन् उनके नवीनीकरणके लिये होता है, क्योंकि धर्म तो सनातन व्यवस्था है, उसका खण्डन अथवा अतिक्रमण करके वे समाजको दिङ्‌मूढ़ करना नहीं चाहते। अस्थिरता और व्यामोहको दूर कर सुनिश्चित दिशादृष्टि देना उनका आदर्श और ध्येय रहता है, इसीलिये वे पूज्य हैं, इसीलिये वे युगातीत हैं।

यह भारतीय संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें आकर सारी संस्कृतियोंको इसी रूपमें मिल जाना पड़ता है, ठीक उसी तरह जिस तरह बाहर भिन्न रूपमें बहनेवाली नदियां समुद्रमें मिलकर समुद्र होजाती हैं। भारतीय धर्ममें 'एडजस्ट' करनेका लचीला-पन भी नहीं है, वह तो दिङ्‌मान हिमाचल की तरह अचल-अविचल है। इसे दोष भी कहें तो कह सकते हैं पर इस गुणके ही कारण आज यह जीवित है अन्यथा समयानुसार बद-लता रहता तो आज इसका मूल रूप किसीकेलिये ज्ञान योग्य ही नहीं रहता। जमानेको धर्मके अनुसार चलना होता है, क्योंकि धर्म सनातन है, सत्य है—यही है इसकी सर्वोच्च विशेषता। इसके साथ ही यह भी अवश्य है कि धर्ममें लचीलेपनको हमने दोष माना पर लोक-व्यवहार और युग-परम्पराको हमने उपेक्षणीय नहीं माना। धर्म तो सीमित बन्धन है, जो हमारे अभ्युदयके लिये स्थिर किया गया है पर व्यक्तिका जीवन तो व्यापक और विविध रूप है, इसलिये धर्मेतर बात-व्यवहारोंको हमने लोकाचारकी संज्ञा दी है तथा उसी लोकाचारकी प्रतिष्ठा करना धर्मको लचीला और किसी सीमातक परिवर्तनशील मानना है। हमारे आप्त जन कहते हैं—

'यद्यपि सिद्धं लोक विरुद्धं नाचरणीयम्'।

कोई भी बात धर्मसे सिद्ध हो, पर लोकाचारके विपरीत पड़ती हो तो उसका आचरण नहीं करना चाहिए। अर्थात् धर्मसिद्ध हो, पर लोकसिद्ध नहीं हो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, धर्मविरुद्ध लोकाचारमें पूज्य हो ही नहीं सकता।

गत दो सहस्राब्दियाँ भारतके लिये सुप्तावस्था थीं। इतनी गंभीर निद्रामें मग्न था यह देश कि आक्रान्ता, पददलित कर गया—विदेशी, शासन कर गये, दुर्नीति इसका विभाजन कर गई पर यह था कि सोता रहा। इस आक्रमण और पराधीनताके समय ने इसके हिन्दुत्वको तो चोट नहीं पहुँचाई, पर कदर्यवृत्तिका अभिशाप अवश्य दे दिया। हम सोये, जब कोई और जमाना था और आज, जब जग रहे हैं तो कोई और युग है। हम वास्तवमें भूल गये कि सोते समय किस सम्पन्नतामें सोये थे और आज किस प्रदर्शनपरक (विपन्नता) सम्पन्नता में जग रहे हैं। दु:ख है तो यही कि उस विगतको याद करने की भी चेष्टा नहीं करते और वर्तमान के साथ पद निक्षेप करनेमें ही कल्याण मान बैठे हैं। किसी यूरोपीय वृक्षको भारतमें उगानेकी कोशिश कर रहे हैं, (क्योंकि वह सामयिक भौतिक सभ्यताका पुरोगामी प्रतीक है) और उस कोशिशमें हमारे यहाँ के प्राकृतिक वातावरण को ही बदल डालना चाहते हैं।

यह हमारा दोष नहीं है—यह संसर्ग जनित विकार है। पीवल सर्प का विष है (पीवल सर्प रातमें सो रहे व्यक्तिकी छातीपर बैठ कर उसके श्वासको स्वयं पीता है तथा अपना विष उसके शरीरमें प्रवेश कराता रहता है)। इस विषका प्रभाव हमारे मनपर पड़ा है और आज आत्मविश्लेषण करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आज स्वाधीन होकर भी हम मनसा पराधीन हैं—व्यवहारमें भी परापेक्षी हैं ही कई क्षेत्रोंमें। इसका कारण है धर्मका शिथिल होना। यदि धर्म प्राणवन्त रहता तो हमारेमें देशीय गौरव बना रहता, धर्म हमारे राष्ट्रको एक सूत्रमें बाँधे रहता, किन्तु ऐसा नहीं हो सका, नहीं हो रहा। ये विभिन्न सम्प्रदाय और उन सम्प्रदायोंमें उच्च-नीचकी भावना, वर्ग विद्वेष आदि सारी व्याधियां इस धर्मका शिथिलन ही हैं और इसका प्रारंभ गत दो सहस्रक में ही हुआ है। इन परिणामोंको देखकर यदि हमारे देशके कर्णधारोंने धर्मनिरपेक्षताके सूत्रको आदर्श मान लिया तो क्या बुरा था? किन्तु उस धर्म-निरपेक्षताके दूरगामी परिणाम प्रतिकूल ही रहे। वस्तुतः वह 'निरपेक्षता' ऐसा क्षितिज थी, जो स्वीकृतियों से बनता है (अर्थात् उसमें सब धर्मोंके समरूप समादरकी भावना थी) किन्तु आजका उस निरपेक्षता का रूप अस्वीकृतियोंसे बना हुआ है (अर्थात् किसी भी धर्मका आदर नहीं, जब राष्ट्रीय धर्म ही कोई न हो तो कोई भी धर्म नहीं रहता)। प्रत्यक्ष रूपसे न सही, पर परोक्षरूपसे तो यह निरपेक्षता उसी विखण्डनका प्रभाव है, जिसके आधार पर आजका यह फैशन (विज्ञान) फैल-पनप रहा है। एण्टिसैप्टिक, एण्टिबायोटिक्स आदि सभी चीजें उस बीज के ही

फलरूप हैं, जो भौतिक जगत्में स्थूल रूपमें बोया गया था। सत्य एक होता है, असत्यके कई रूप होते हैं। धर्म एक है, उसका कोई विकल्प नहीं होसकता, पर अधर्मके नानाविध रूप होसकते हैं जिनका प्रत्यक्षरूप अनैतिकता, पक्षपात, भ्रष्टाचार, स्वार्थ और राष्ट्रद्रोह जैसी प्रवृत्तियोंके प्रसारसे जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपमें यह उसी धर्मनिरपेक्षता का अस्वीकृतिमूलक प्रतिफलन है।

इस निरपेक्षताने दूसरा दोष दिया है 'तटस्थता' का, क्योंकि जो निरपेक्ष है, वह किसी भी पक्षका नहीं होसकता। इसलिये उसे तटस्थ होना ही पड़ेगा। तटस्थ भी अस्वीकृति ही है, निषेधका ही रूप है। तट, न मध्य होता है न सुदृढ़-सुदूर आधार। यह तो बस तट ही होता है। मूलतः इस तटस्थतासे हमारा आशय इस मार्ग से था, जो स्पष्टता और सत्यका था, क्योंकि सत्य पानीका भी था और धरातलका भी, इसलिये हमने सत्यको सार्वभौम रूप देनेकेलिये इस तटस्थताको अपनाया था, पर आज न हम सागरके हैं, न धरती के। यह है हमारा विफल बाह्यदर्शन और वह (धर्मनिरपेक्षता) है हमारा अन्तर्दर्शन। सिद्धान्तके रूपमें ये दोनों ही बातें असंगत नहीं थीं, पर विखण्डनसे ग्रस्त मनोवृत्ति निषेधों में ही उलझी रही। निरपेक्षतासे कोई सिद्धि नहीं होती। लोक-व्यवहारमें सापेक्षताका महत्व होता है। विधेयसे प्रारंभ होनेवाला प्रयत्न किसी ठोस परिणामपर पहुँचता है। भारतीय धर्म और संस्कृति भी निरपेक्षता और निस्संगताको महत्व देती है, पर उसमें विमुख होनेकी कल्पना नहीं है। वीतराग व्यक्तियोंकी निःस्पृहता अथवा निरपेक्षता एक निवृत्ति से दूसरी प्रवृत्तिको स्वीकार करना है, उसमें भी निषेध की व्यापक भावना नहीं है। वह एक पक्षसे हटकर दूसरे पक्षकी प्रतिष्ठा है अथवा दोनों में समत्वबुद्धिका पर्याय है। कृष्णका प्रतिपाद्य—'सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते' यही समत्व और निरपेक्षता है, निषेध वा विमुखता नहीं।

इसका और भी भयानक रूप हमारे सामने यह है कि आये दिन कानून और नियम बनाये जाते हैं, क्योंकि हमें निषेधसे मोह होगया है, अस्वीकारको हमने गले लगा लिया है। उन अस्वीकारकी विसंगतियोंसे बचनेकेलिये कानूनोंका जंजाल बुना जाता है और इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता दिन-प्रतिदिन नष्ट होती जारही है, ग्राम-राज्य और शक्ति के विकेन्द्रीकरणको आदर्श माननेवाले देशमें शक्तिको केन्द्रित किया जा रहा है अथवा उसके समूल नाश का उपक्रम रचा जा रहा है।

इन सबके स्थानपर यदि हमारा दृष्टिकोण विधेयवादी अथवा स्वीकारपरक होजाता है तो यह सारी प्रक्रिया अपने आप अनावश्यक होजाती है। होता यह रहा है कि नियम और भावनाका भी विखण्डन होता रहा है। कहने को आज भी नियम, भावनाको आधार मानकर बनाया और पालन किया जाता है. किन्तु यथार्थरूपमें दोनोंमें अन्तर पड़ गया है, अभेद्य अन्तर। यह हमारे देश-दर्शनके अनुकूल नहीं है, क्योंकि हम सूक्ष्मपर विश्वास करते रहे हैं। स्मृतियाँ या अन्य धर्मशास्त्र समाजपर भावनात्मक प्रभाव डालती थीं। वे व्यक्तिको शैशवसे ही सहज ग्रहण योग्य होती थीं। इसलिये सामान्यतया उनका अति-

क्रमण नहीं होता था, पर आज तो धर्म एक जुआ बन गया है और उसे लादे रखना अच्छा नहीं लगता। पर हमारे संस्कारोंके अनुसार उसे प्रेम और आदरके साथ लादे रखकर ही हम देश या समाजकी गाड़ीको लक्ष्यतक पहुँचा सकेंगे—यह सत्य स्वीकार करना ही होगा।

•••०◐०•••

या जगमें कोउ हितू न दीखे

मनुआ राम के व्योपारी।
अबके खेप भक्ति की लादी, बणिज कियो तैं भारी॥
पाँचों चोर सदा मग रोकत, इन सों कर छुटकारी।
सतगुरु नायक के सँग मिलि चल, लूट सकै नहि धारी॥
दो ठग मारग माँहि मिलेंगे, एक कनक एक नारीं।
सावधान हो पेच न खइयो, रहियो आप सँभारी॥
हरि के नगर में जा पहुँचोगे, पै हो लाभ अपारा।
चरणदास तो को समझावै, राम न बारम्बारा॥

राखिओ लाज गरीब निवाज।
तुम बिन हमरे कौन सँवारे, सब ही बिगरे काज॥
भक्तवछल हरि नाम कहावो, पतित उधारनहार।
करो मनोरथ पूरन जनको, सीतल दृष्टि निहार॥
तुम जहाज मैं काग तिहारो, तुम तजि अंत न जाऊँ।
जो तुम हरि जू मारि निकासौ, और ठौर नहिं पाऊँ॥
चरणदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
मेरी हँसी सो हँसी तुम्हारी, तुम हूँ देखु विचार॥

अपना हरि बिन और न कोई।
मातु-पिता सुत बंधु कुटुँब सब स्वारथ ही के होई॥
या काया कूँ भोग बहुत दे, मरदन करि-करि धोई।
सो भी छूटत नेक तनिक-सी, संग न चाली वोई॥
घर की नारि बहुत ही प्यारी, तिन मैं नाहीं दोई।
जीवत कह तो साथ चलूँगी, डरपन लागी सोई॥
जो कहिये यह द्रव्य आपनो, जिन उज्वल मति खोई।
आवत कष्ट रखत रखवारी, चलत प्रान ले जोई॥
या जग में कोउ हितू न दीखे, मैं समझाऊँ तोई।
चरणदास सुकदेव कहै यों, सुनि लीजै नर कोई॥

—चरणदास

•••०O०•••

पूज्य मालवीयजीकी स्मृतिमें, जिनकी पण्य जयंती विगत २५ दिसम्बरको देशके कोने कोनेमें मनाई गई

"स्वर्गीय महामना पूज्य मालवीयजी हिन्दूधर्म और संस्कृतिके प्राण थे। उन्होंने अपने जीवन के क्षणोंका उपयोग सतत उन संकटोंको दूर करनेके लिए ही किया, जो समय-समयपर उपस्थित होते थे। इसीलिए तो सभी एक स्वर से कहते हैं कि वे माँ भारतीके वरद पुत्र थे, जो भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके लिए उसके अंकमें अवतीर्ण हुए थे।"

मालवीय सूक्ति-मुक्तावलि

श्रीफतहचन्द्र शर्मा "आराधक"

पूज्य महामना मालवीयजी महाराज देशको एक सूत्रमें आबद्ध करनेके लिए जीवन भर सचेष्ट रहे। उन्होंने राष्ट्रके संगठनके लिए एक योजना इस प्रकार बनाई थी—

ग्रामे ग्रामे सभा कार्या,
ग्रामे ग्रामे कथा शुभा।
पाठशाला मल्लशाला,
प्रति पर्व महोत्सवः॥

जन जागरण एवं परस्पर एकताके लिये गाँव गाँवमें सभा होनी चाहिए एवं प्रत्येक गाँवमें आदर्श कथा बैठानी चाहिए। प्रत्येक गाँवमें पाठशाला एवं मल्लशालाकी स्थापना करनी चाहिये। प्रत्येक पर्वपर उत्सव मनाकर, परस्पर मिलकर संगठन करना चाहिये।

अनाथा विधवा रक्ष्या,
मन्दिराणि तथा च गौः ।
धर्म संगठनं कृत्वा,
देयं दानं च तद्धितम् ॥

सब भाइयोंको मिलकर निराश्रय लोगोंकी, विधवाओंकी, मन्दिरों एवं अन्य धार्मिक स्थानों तथा गोवंशकी सेवा करनी चाहिए तथा इस कार्यके लिए जनताको उदारतापूर्वक दान देना चाहिये ।

स्त्रीणां समादरः कुर्यात्,
दुखितेषु दया तथा ।
अहिंसका न हन्तव्या,
आततायी वधार्हणः ॥

नारी जातिका सम्मान करना चाहिये । दुखियोंपर दया करनी चाहिये एवं उन जीवोंको नहीं मारना चाहिये, जो किसी को हानि नहीं पहुँचाते । केवल उनको मारना चाहिए, जो आततायी हों, आततायी लोगोंको मारना धर्म है ।

अभयं सत्यमस्तय,
ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा ।
सेव्यं सदा अमृतमिव,
स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा ॥

निर्भय रहकर सच्चाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन, धीरज एवं क्षमा आदि गुणोंको अमृत समान समझकर पालन करना चाहिए ।

कर्मणः फलमस्तीति,
विस्मर्तव्यं न जातुचित् ।
भवेत्पुनः पुनर्जन्म,
मोक्षस्तदनुसारतः ॥

इस बातको कभी न भूलना चाहिए कि बुरे कार्योंका फल बुरा एवं भले कार्योंका भला, अतः कर्मोंके अनुसार ही मानव मात्रको बार बार जन्म मिलता है ।

स्मर्तव्यः सततं विष्णुः,
सर्वं भूतेष्ववस्थितः ।
एक एवाद्वितीयो यः,
शोकपापहरः शिवः ॥

घट घटमें बसनेवाले भगवान् विष्णु सर्वव्यापी ईश्वरका सदा स्मरण करना चाहिए, जिनके समान दूसरा कोई नहीं और जो दुःख और पापको हरनेवाले शिव-स्वरूप हैं।

पवित्राणां पवित्रं यो,
मंगलानां च मंगलम्।
देवतं देवतानां च
लोकानां सोऽव्ययः पिता॥

जो सब पवित्र वस्तुओंमें अधिक पवित्र, जो मंगल कर्मोंके मंगल-स्वरूप हैं, वही सब देवताओंके देवता एवं समस्त संसारके आदि सनातन पिता हैं।

सनातनीयाः सामाजिकाः,
सिक्खाः जैनाश्च सौगताः।
स्वे स्वें कर्मण्यभिरताः,
भावयेयुः परस्परम्॥

सनातनी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, बौद्ध और जैन आदि सभी को चाहिए कि अपने-अपने विशेष धर्मका पालन करते हुए परस्पर प्रेम और आदरका व्यवहार रखें।

श्रयतां धर्म सर्वस्वं,
श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि,
परेषां न समाचरेत्॥

धर्मके सर्वस्वको सुनो तथा इसपर आचरण करो। जो कार्य स्वयंको बुरा या दुखदायी प्रतीत हो वह दूसरे के साथ न करो।

जीवितः य स्वयं चेच्छेत्,
कथ सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत्,
तत्परस्मा अपि चिन्तयेत्॥
न कदाचिद्बिभेतव्यम्,
नान्यं कञ्चन् भीषयेत्।
आर्यं वृत्तिं समाश्रित्य,
जीवेत् सज्जन-जीवनम्॥

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह किसी अन्यको हानि नहीं पहुँचा सकता। सभी को चाहिए कि वे कोई किसीसे न डरें तथा किसीको न डरायें, श्रेष्ठ पुरुषोंकी वृद्धि में दृढ़ रहते हुए सज्जनोंका सा जीवन बिताना चाहिये।

सर्वे च सुखिनः सन्तु,
सर्वे सन्तुः निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा,
कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

सबको चाहिये कि वह प्रत्येक प्राणीमात्रके लिए कामना करे कि सब सुखी रहें, सब स्वस्थ रहें, सबका भला हो, कोई दुःख न पावे।

इत्युक्त लक्षणः प्राणि,
दुःख ध्वंसन तत्परः।
दया बलवतां शोभा न,
त्याज्या धर्मचारिभिः॥

प्राणियोंके दुःख दूर करनेमें तत्पर रहना बलवानोंकी शोभा है। धर्मं के अनुसार चलने वालों को कभी इसका त्याग नहीं करना चाहिये।

पारसीकै मुसल्मानैरी-
साईयेर्यहूदिभिः।
देशभक्तर्मिलित्वा च,
कार्या देश समुन्नतिः॥

देशकी उन्नतिके कार्योंमें जो पारसी, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, देशभक्त हों, उनके साथ मिलकर काम करना चाहिये।

पुण्योऽयं भारतो वर्षः,
हिन्दुस्थानेति कीर्तितः।
वरिष्ठः सर्वदेशानां,
धन धान्य समन्वितः॥

यह भारतवर्ष जो 'हिन्दुस्थान' के नामसे प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है! धन, धर्मं एवं सुखका देनेवाला यह देश सब देशोंसे उत्तम है।

"भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं 'सौन्दर्य' हैं। उनका क्या बालरूप, क्या कैशोररूप, और क्या प्रौढ़रूप-सब सौन्दर्यमय है, अलौकिक सौन्दर्यमय है। जिसे उनके अनुपम सौन्दर्यकी झाँकी मिली, उसने समस्त लौकिक बन्धनोंको तोड़कर-संपूर्ण अलंघ्य प्राचीरोंको लांघकर श्रीकृष्ण की आराधनाकी है।"

सौन्दर्य बालकृष्णका, आँखें मियाँ नजीरकी

श्रीदुःखहरणप्रसाद शर्मा 'रंजन' एम० ए०

मियाँ नजीरका जन्म आगरामें सं० १७९७ वि० में हुआ था। ये एक सूफी संत थे। परधर्मावलम्बी होने पर भी ये श्रीकृष्णके अनन्य उपासक थे। कृष्णके प्रति इनके हृदयमें अगाध श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण इनके परम पूज्य थे। उन्हींकी भक्तिमें अहर्निश मस्त रहा करते थे। लगता था, श्रीकृष्णके बिना एक क्षण भी रहना उनके लिए बेकार हो। श्रीकृष्णके प्रति उन्होंने जो भक्ति दर्शायी है, उसमें ऐश्वर्यभावकी प्रधानता है।

शृङ्गार सम्राट् श्रीकृष्णका साँवलिया रूप हिन्दीके प्रायः सभी कवियोंके नयन-मन में घर कर गया है। कवियोंने उनके बालरूपकी जो अभिव्यक्तिकी है, उसे हम निम्नरूप में रख सकते हैं:—

(१) रूप वर्णन
(२) चेष्टाओं और क्रीड़ाओंका वर्णन

(३) अन्तर्भावना या अन्तःसौन्दर्य-भावना
(४) संस्कारों, उत्सवों और समारोहोंका वर्णन
(५) लीला वर्णन

श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके कलनमें सूरदासजीने अपनी विलक्षण प्रतिभाका परिचय दिया है। उनसे इस सम्बन्धकी कोई बात छूटने नहीं पाई है। इस वर्णनके सामने नजीरसाहबका वर्णन तो सूर्यके सामने दीपक दिखाना जैसा है। लेकिन इतना तो निर्विवाद रूपसे कहा ही जा सकता है कि परधर्मावलम्बियोंमें यह वर्णन अपना अन्यतम स्थान रखता है। नजीरके वर्णनमें स्वाभाविकता नहीं है, केवल भक्त भाव-विह्वल होकर भावोंकी सृष्टि करता दिखाई पड़ता है, चाहे वह बाल-वर्णन हो या युवा-वर्णन। उसके दिलमें एक संवेग की लहर उठती है और वह चिल्ला उठता है:—

यारो सुनो ये दधिके लुटैयाका बालपन।
औ मधुपुरी नगरके बसैया का बालपन॥
मोहन सरूप नृत्य करैया का बालपन।
वन वनके ग्वाल गौवें चरैया का वालपन॥
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

बस, कविका बालवर्णन शुरू हो जाता है। श्रीसूरदासजी यहीं अपनी बहुज्ञताका परिचय देते हैं और जन्मकी कथाका उद्घाटनकर 'घुटुरुअन चलत रेनु तन मंडित' की बात कहते हैं। उनके कृष्ण सबसे पहले अहीरके छोरे थे। बादमें कृष्ण भगवान् बन जाते हैं। नजीर साहब तो उनकी सर्वज्ञता पहले ही खोल देते हैं, जिससे उनके और साधारण बालकोंके बचपनमें अन्तर आ जाता है और यह स्वाभाविक भी है:—

जाहिर में सुत वो नन्द जसोदाके आप थे।
वरना वो आपी माई थे और आपी बाप थे।
परदेमें बालपन के ये उनके मिलाप था।
जोती सरूप कहिये जिन्हें सो वो आप थे॥

यही कारण था कि अभिव्यक्तिमें स्वाभाविकता नहीं मिलती। जैसे श्रीकृष्ण संसारकी रीतिको निभानेकी कला जानते हैं, ठीक उसी प्रकार उसका कवि भी अपनी अभिव्यक्तिकलामें शुद्धकलाकी पच्चीकारी नहीं कर पाता। उनके कृष्ण आपही मालिक थे। उनके लिये क्या बालपन, क्या जवानी और क्या बुढ़ापा, सब एक था। वह तो 'संसार की जो रीत थी, उसकी केवल चलनका कायल था!

नजीरके कृष्ण सूरकी भाँति ही नन्द बाबाकी वृद्धावस्थाकी संतानके कारण अधिक प्यारे थे। सूरने उनके पालनेपर सोने का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। यहाँ नजीर

ने इस प्रसंगका स्पर्श भी नहीं किया है। हाँ, पाटी पकड़कर चलनेका वर्णन कविने बड़ी ही ओजपूर्ण शैलीमें किया है। पाटी पकड़कर चलनेकी उसकी कला देखकर आसमान भी निहाल हो जाता है। वासुकि उसके चरणको छूनेका प्रयत्न करने लगते हैं। और धरती ! उसकीतो प्रसन्नताका ठिकाना ही नहीं रहा। देखिये—

पाटी पकड़ के चलने लगे जब मदनगुपाल ।
धरती तमाम हो गई, एक आनमें निहाल ॥
वासुकि चरन छुअनको चले छोड़के पाताल ।
आकास परभी धूम मची देख उनकी चाल ॥

अब वे कुछ सयाने हुए। वे अपनी बालक्रीड़ाओंसे नंद यशोदाको परम आनन्दित करते हैं। गोपबालकोंके साथ नानाभाँतिके खेलकूद करते हैं। वे चोरी कलामें निपुण हैं। उनके दधिमाखनकी चोरीकी नगरमें शोहरत फैल जाती है। जहाँ भी दधिका मटका मिल सकता, उसे खोजते, और ज्योंही मिल जाता, उसमें अपना मुँह ही बोर देते थे। यदि दधिका मटका छींके पर होता तो गोपबालकोंके कंधे पर चढ़ जाते थे। यदि इतनेपर भी वे मटकातक न पहुँच पाते तो मुरलीसे उसे फोड़ देते। लेकिन चोरी करनेवालेको तो इतने ही से संतोष नहीं होता। वह तो चौरशास्त्रका चतुर चितेरा होता है। वह अपने ऊपर लगे इलजामका बड़ी ही सफाईसे उत्तर देता है। कृष्ण भी यदि रँगे हाथ पकड़में आ जाते तो सफाईमें जो तर्क उपस्थित करते वह उनके बालमुखसे बड़ा ही भावपूर्ण प्रतीत होता है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

गर चोरी करते आ गई ग्वालिन कोई वहाँ ।
औ उसने आ पकड़ लिया तो उससे बोले वाँ ॥
मैं तो तेरी दहीकी उड़ाता था मक्खियाँ ।
खाता नहीं था, उसकी निकाले था चींटियाँ ॥

यदि किसी ग्वालिनसे यह हरकत सह्य नहीं हुई तो वह उनका हाथ पकड़कर डाँटफटकार करने लगी। फिर क्या था, कृष्ण उसे अपना रूप दिखा देते। अब तो वह आप ही माखन रोटी कटोरी भर-भरकर उनके सामने रखती—

गुस्सेमें हाथ पकड़ती जो आनकर ।
तो उसको वह स्वरूप दिखाते थे मुरलीधर ॥
जा आपी लाके धरती वो माखन कटोरी भर ।
गुस्सा व उसका आनमें जाता वहाँ उतर ॥

कभी-कभी ग्वालिने माता यशोदाके पास जाकर उनकी हरकतोंका वर्णन भी करती

थीं। दिलमें तो वे कृष्णके लिये लालायित रहती हैं। वे माखन छिपाकर रखती हैं कि इसी बहाने उनका दर्शन हो। दूसरी ओर यशोदाके यहाँ फरियादभी लेकर जाती हैं। इस तरह वे घर और बाहर-दोनों जगह कृष्णका साहचर्य-सुख प्राप्त करती हैं। घरमें उनकी कला देख बाग बाग हो जाती हैं, तो यशोदाके सामने उनके वाक्-चातुर्यसे लोटपोट हो जाती हैं। इस तरहकी बालसुलभ-चंचलताको देखकर किस रसिकका मन नहीं डोल जायेगा! कविका यह अन्तःसौन्दर्य बड़ाही अच्छा बन पड़ा है—

सब मिलि यशोदाके पास यह कहती थीं आके बीर।
अब तो तुम्हारा कान्हा हुआ है बड़ा सरीर॥
देता है हमको गालियाँ औ फाड़ता है चीर।
छोड़े दही न दूध न माखन मही न खीर॥

यदि माता यशोदा इस कथनको सुनकर रोष प्रकट करतीं,बालक कृष्ण झटसे उत्तर दे उन्हें निरुत्तर कर देते हैं। बालमुखसे यह उत्तर सुन माता यशोदाके साथही गोपियाँभी अति प्रसन्न दीख पड़ती हैं:—

तुम सच न मानो मैया ये सारी हैं झूँठिया।

ये खुद ही मुझे फुसला ले जाती हैं और क्या-क्या व्यवहार करती हैं, सुनो—

माता कभी ये मुझको पकड़ कर ले जाती हैं।
औ गाने अपने साथ मुझे भी गवाती हैं॥
सब नाचती हैं आप औ मुझे भी नचाती हैं।
आपी तुम्हारे पास ये फरियादी आती हैं॥

यशोदाके यहाँ बार-बार फरियाद लेके जाने पर कृष्णने यशोदाके रुखको देखकर एक दिन अपनी प्रगल्भताका परिचय दे ही तो दिया। एक दिन उन्होंने सचमुच अपने मुख में माखन चुरा लिये। यशोदाके पूछनेपर वे अपना मुँह बनाने लगे। यशोदाके बार बार आग्रह पर उन्होंने अपना मुँह खोला। यशोदा देखकर आश्चर्य चकित होगई—मुँहमें तीनों लोकका आलम देख यशोदा भयातुर होगई—

इक रोज मुँह में कान्हने माखन छिपा लिया।
पूछा यशोदा ने तो वहाँ मुँह बना दिया॥
मुँह खोल तीन लोकका आलम दिखा दिया।
इक आनमें दिखा दिया,और फिर भुला दिया॥

आप वंशी बजानेकी कलामें निपुण थे। जब आप वंशी बजाते हैं तो समस्त व्रज आत्मविभोर हो जाता है। उनकी वंशीकी मधुरध्वनि सुनकर व्रजगोपियाँ मंत्रमुग्धकी तरह उनकी ओर खिंची जाती हैं। गौवें जहाँ तहाँ खड़ी हो जाती हैं। वे यशोदाके लिये अबोध बालक हैं, लेकिन जब मुरलीकी धुनमें 'राधे-राधे' रटने लगते हैं, तो प्रगल्भ तरुणसा दीख पड़ते हैं। इस तरह यह मुरलीधरका रूप सभीको आकर्षित कर लेता है—

जब मुरलीधरने मुरलीको अधर धरी,
क्या क्या परेम-प्रीत भरी उसमें धुन भरी।
लै उसमें 'राधे-राधे'की हरदम भरी खरी,
लहराई धुन जो उसकी इधर औ उधर जरी।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैयाने बाँसुरी।
ग्वालोंमें नन्दलाल बजाते वो जिस घड़ी,
गौएँ धुन उसकी सुननेको रह जातीं सब खड़ी।
गलियोंमें जब बजाते तो वह उसकी धुन बड़ी,
ले ले के अपनी लहर जहाँ कान में पड़ी।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैयाने बाँसुरी।

इस तरहके बालपनको देख नजीर साहबका दिल दमक उठता है। साधारण बालकों के बालपनमें और इनके बालपनमें अन्तर था; इस भेदका ख्याल भला किसको थाः—

होता है यों तो बालपन हर तिफलका भला।
पर उनके बालपनमें कुछ और भेद था॥
इस भेदकी भला जी किसीको खबर है क्या।
क्या जाने अपनी खेलने आये थे क्या कला॥

इस अद्भुत कलाको देखकर नजीर साहब कह उठते हैं—

सब मिलके यारो कृष्ण मुरारीकी बोलो जै।
गोविन्द कुञ्जछैलबिहारीकी बोलो जै॥
दधिचोर गोपीनाथ विहारीकी बोलो जै।
तुम भी नजीर कृष्णमुरारीकी बोलो जै॥
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्णमुरारीकी बोलो जै॥

हिन्दूधर्म और संस्कृतिके प्रतीक श्रीद्वारकाधीशजीके मंदिरका चित्र
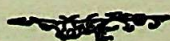
"मथुरा हिन्दूसंस्कृति और धर्मका प्रधान केन्द्र है। श्रीकृष्णका जन्म-स्थान होनेके कारण, चिर-प्राचीन कालसे मथुरामें धर्म और संस्कृति शरीर और प्राणकी तरह अभिन्न होकर रही है। यमुना, प्राचीन टीले और मन्दिर आज भी संस्कृति और धर्मका उद्‌घोष करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन्हींमें से तो एक मथुराका श्रीद्वारकाधीशजीका विशाल मन्दिर भी है।"

मथुराका श्रीद्वारकाधीशजीका मन्दिर

श्रीउमाशंकर दीक्षित एम० ए०

मन्दिरोंकी पावन श्रृङ्खलामें व्रजभूमि अग्रगण्य है। उसमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि मथुरापुरीमें मन्दिरोंका बाहुल्य तो सर्वाधिक है। यह पावनपुरी सप्त महापुरियों में प्रधान होनेके साथ ही साथ वैष्णवधर्मकी केन्द्रविन्दु भी है। प्राचीनकालमें वैष्णवेतर (जैन, बौद्ध) धर्मोंका भी केन्द्र होनेका सौभाग्यभी इस नगरीको मिला है। अतः यहाँ देवमन्दिरोंकी बहुलता स्वाभाविक है।

मथुराके द्वारकाधीशका मन्दिर अपने सांस्कृतिक वैभव, कला एवं सौन्दर्यकेलिये अनुपम है। इसी कारण यह समस्त भारतवर्षके आकर्षणका केन्द्र बना हुआ है। भारतवर्ष के कोने कोने से आनेवाली धर्मप्राण जनता जबतक राजाधिराज द्वारकाधीशके दर्शन

नहीं कर लेती, तब तक अपनी यात्राकी पूर्ण सफलताका अनुभव ही नहीं कर पाती। यह मथुराका मुख्य मन्दिर है और वैष्णवधर्मकी शोभाका कीर्तिस्तम्भ है।

श्रीद्वारकाधीशका शुभागमन मथुरामें ग्वालियरसे हुआ है। ग्वालियरमें यह नागा साधुओंके सेव्य (इष्टदेव) थे। ग्वालियरमें सेठ गोकुलदास पारिखजी इनके परम भक्त थे। पारिखजी ग्वालियरकी महाराणी बैंजाबाईके यहाँ रत्नोंकी परीक्षा किया करते थे। इसीलिये पारिखजी कहलाते थे। बोलचालमें लोग उन्हें राधामोहन कहते थे। वे बड़ोदा राज्यके सिनोर ग्रामके निवासी थे। बड़े दयालु और धार्मिक थे।

सिंधिया राज्यकी सेना जब उज्जैनका माल लूटकर ग्वालियरमें लाई, तो महाराणी बैंजाबाईने उसे अपने कोषमें नहीं रखा; क्योंकि लूटके उस धनमें ब्राह्मणों एवं देवमन्दिरों का भी धन होने की आशंका थी। अतः पारिखजीको आज्ञा दी गई कि वे इस धन को व्रजमें लेजाकर पुण्यार्थ लगादें। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों श्रीद्वारकाधीशजीने, जो नागाओंकी पूजा-सेवामें थे, पारिखजीकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें स्वप्नमें आदेश दिया, "मुझे भी व्रजमें मथुरा ले चलो"। पारिखजीने जब ठाकुरजीका यह आदेश नागा साधुओंको सुनाया तो नागा साधुओंने उनकी भक्तिकी प्रशंसाकी और उन्हें ठाकुरजीको मथुरा ले जाने की आज्ञा दे दी, तदनुसार पारिखजी उक्त निधि सहित श्रीद्वारकाधीशजी के साथ सं० १८५० वि० में मथुरापुरीमें आये।

सर्वप्रथम पारिखजीने अपने इष्टदेव श्रीद्वारकाधीशजीको गोलपाड़ेमें स्थित जूना मन्दिरमें विराजमान किया। फिर कुछ समय पश्चात् मथुरा वृन्दावनके बीच, यमुना तट पर अक्रूर घाटके समीप एक बाग में विराजित किया और फिर मन्दिर (भतलौंड़ का मन्दिर) बनवाकर श्रीद्वारकाधीशजीको वहाँ विराजमान कराया। किन्तु कुछ काल पश्चात् ही वहाँ से सेवक और सेव्य-दोनोंका मन उचाट खानेलगा। परिणामस्वरूप पारिखजीने मथुरानगरीमें असकुण्डा और विश्रान्ततीर्थके बीच वर्तमान मन्दिरको बनवाना प्रारम्भ किया।

पारिखजी जब मथुरा आये थे, तब उनके एक निर्धन मित्र मनीराम वैश्य भी उनके साथ आये थे। मनीरामजी जयपुरके निवासी थे और इतने गरीब थे कि उनके पास पानी पीनेके लिए एक लोटा तक नहीं था। उनके तीन पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्रका नाम लक्ष्मीचन्द था। पारिखजीकी प्रीति ससारमें अन्य किसीसे नहीं थी। श्रीद्वारकाधीशजीके अतिरिक्त यदि उनकी कुछ प्रीति किसीसे थी तो अपने उन्हीं गरीब मित्र मनीरामजी से थी।

द्वारकाधीशजीका वर्तमान मन्दिर बन ही रहा था कि पारिखजी दस्तोंकी बीमारी से रोगाक्रान्त हो गए। उसी बीमारीमें उनका गोलोकवास होगया। पारिखजी मृत्युके समय अपनी समस्त सम्पत्तिका उत्तराधिकारी मनीरामजीके जेष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्दको नियुक्त

कर गए थे। लक्ष्मीचन्दने पारिखजीकी समाधिपर एक भव्य छतरी यमुनाबाग (मथुरा) में बनवाई, जो ग्राज भी वहाँ विद्यमान है।

पारिखजी द्वारा निर्माणारंभ किया गया मथुराका यह भव्य मन्दिर बादमें सेठ लक्ष्मीचन्दने ही बनवाकर पूर्ण किया ग्रौर उसमें भगवान् श्रीद्वारकाधीशजीकी विधिवत् स्थापना की गई। मन्दिरकी विधिवत् सेवापूजाके लिये बहुत से गाँव खरीदकर मन्दिर को समर्पित किए गए ग्रौर भोगराग ग्रादिकी पूर्ण सुव्यवस्था कर दी गई।

सेठ लक्ष्मीचन्दके पश्चात् उनके वंशज सेठ गोविन्ददासने, जो वल्लभ पुष्टिसम्प्रदायके ग्रनुयायी थे, वल्लभकुलके ग्राचार्यपाद गो० श्रीगिरधरलालजी महाराज, काँकरौली को ज्येष्ठ शुक्ला ११ सम्वत् १६३० को श्रीद्वारकाधीशजीका मन्दिर सेवापूजाकी व्यवस्थाके लिए भेंट कर दिया। तब से लेकर ग्राज तक मन्दिरकी सेवा पूजा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायके ग्रनुसार मर्यादा ग्रौर वैभवपूर्ण रीतिद्वारा होती चली ग्रा रही है। ग्राजकी मँहगाईके समय में भी मन्दिरके भोगराग ग्रादि में कमी नहीं दिखाई पड़ती। मन्दिरमें प्रायः नित्य ही बड़े-बड़े उत्सव होते हैं। ब्राह्मण, साधु, सन्त प्रसाद पाते हैं। ग्रन्नकूटके पावन पर्व पर तो सर्वाधिक संख्यामें ब्राह्मण, सन्त तथा सेवकजन प्रसाद पाते हैं। उस समय ग्रनेक प्रकारके भोगोंका ग्रपूर्व दृश्य देखते ही बनता है।

भगवान् श्री द्वारकाधीशजीकी पुष्टिसम्प्रदायके ग्रनुसार प्रातःकालसे रात्रि तक ग्राठ झाँकियाँ होती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—मङ्गला, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग-ये चार झाँकियाँ प्रातःकाल की हैं। उत्थापन, भोग, संध्याग्रारती ग्रौर शयन-यह चार सायंकाल की हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल शृङ्गारके पीछे माखनमिश्रीका ग्रौर रात्रिमें शयन के पश्चात् मोहनभोगका प्रसाद बांटा जाता है। श्रीद्वारकाधीशजीके भोगको बर्फी ग्रधिक प्रसिद्ध है। प्रत्येक पर्वपर विशेष शृङ्गार ग्रौर विशेष भोगरागका ग्रायोजन होता है। श्रावणमें हिंडोलों ग्रौर घटाग्रोंके दर्शन से मथुरा नगरीकी शोभा कुछ निराली ही हो जाती है। तब मन्दिरमें ग्राये दिन नवीन घटाग्रोंके ग्रायोजनसे तरह-तरह की सजावटें की जाती हैं। कालीघटाका दृश्य विशेष दर्शनीय होता है। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीपर भगवान् के जन्मके समय ग्रर्द्धरात्रिमें मन्दिरकी ग्रपूर्व छटा होती है ग्रौर विशेष उत्सव होता है।

मन्दिर बहुत विशाल है। मन्दिरके जगमोहनमें भगवान्की ग्रनेक लीलाग्रोंके चित्र मनको बरबस ग्रपनी ग्रोर खींच लेते हैं। श्रीद्वारकाधीशजीका श्रीविग्रह श्यामवर्णका ग्रौर चतुर्भुजी है। चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुये हैं। शृङ्गार बहुत सुन्दर होते हैं। दर्शन करते ही ग्रलौकिकता का ग्राभास मिलता है। मूर्ति बड़ी दिव्य, चित्ताकर्षक ग्रौर मनोहारिणी है। मन्दिरमें पहुँचते ही एक ग्रपूर्व एवं ग्रलौकिक ग्रानन्दसे हृदय प्रफुल्लित हो जाता है।

मन्दिरके जगमोहनके चारों ओर विशालकाय दो मंजिले कक्ष बने हैं, उनके आगे बरामदे हैं। कक्षोंमें कहीं कार्यालय है, कहीं पर श्रीशालिग्राम आदिकी पूजाका मन्दिर है, कहीं फूल-मालाओंकी व्यवस्था है, कहीं श्रीमद्भागवत्की रसमयी कथाका आयोजन है, कहीं भोगरागकेलिये रसोई का प्रबन्ध है। इस प्रकार से सम्पूर्ण मन्दिर श्रीभगवान्की सेवामें व्यस्त दिखाई पड़ता है।

मन्दिरमें भीतर श्रीद्वारकेश संस्कृत विद्यालय है, जिसमें आचार्य तककी शिक्षा दी जाती है। एक निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय और पुस्तकालय भी है। भगवान्की प्रसन्नताके लिये यहाँ नित्य श्रीमद्भागवत्की कथा होती है। रात्रिमें शयनके उपरान्त भक्तजन संकीर्तन करते हैं। दर्शनोंके समय पुष्टिमतानुसार भगवान्के समक्ष पदों का गायन होता है। इस प्रकार अपनेमें विपुलताको लिये हुये श्रीद्वारकाधीशजीका यह मन्दिर अपनी भव्यता और दिव्यतासे समस्त भारतवासियोंके लिये अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है। वस्तुतः यह भारतप्रसिद्ध मन्दिर मथुरापुरीका गौरव है।

प्रार्थना

प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो आत्माकी पुकार है।

जब हम अपनी असमर्थता खूब समझ लेते हैं और सब कुछ छोड़कर ईश्वर पर भरोसा करते हैं, तब इसी भावनाका फल प्रार्थना है।

एक मनुष्यको हम पत्र लिखते हैं। उसका भला-बुरा उत्तर मिलता भी है और नहीं भी मिलता। ईश्वरको पत्र लिखनेमें न कागज चाहिये, न कलम-दावात ही और न शब्द ही। ईश्वर को जो पत्र लिखा जाता है, उसका उत्तर न मिले, यह संभव ही नहीं। उस पत्रका नाम पत्र नहीं, प्रार्थना है, पूजा है। मन्दिरमें जाकर ऐसे करोड़ों लोग प्रति दिन लिखते हैं और उन्हें श्रद्धा है कि उनके पत्रका उत्तर भगवान्ने दे ही दिया। यह निरपवाद सिद्धान्त हैं—भक्त भले ही उत्तरका कोई बाह्य प्रमाण न दे सके। उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थना में ही सदा रहा है, भगवान्की ऐसी प्रतिज्ञा है।

प्रार्थना या भजन जीभसे नहीं, हृदयसे होता है। इसीसे गूंगे, तुतले, मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभ पर अमृत हो और हृदयमें हलाहल, तो जीभका अमृत किस कामका? कागज के गुलाबसे सुगंध कैसे निकल सकती है?

स्तुति, उपासना, प्रार्थना अंधविश्वास नहीं, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, ये सच हैं। बल्कि यों भी कहने में अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है, दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।

—महात्मागाँधी

•••○○•••

"जगत्में वही वन्दनीय है वही महान् है, और वही सर्वपूजनीय है, जो श्रीकृष्णके प्रेममें उन्मत्त होकर अपने पंचभौतिक जीवन-संसारको उन पर बिना किसी मोहके लुटा देता है। इस प्रकारके महान् त्यागी प्रेमीका स्वर ही जगत् की नश्वरवीणामें अमरताका संगीत बनकर गूँजता है।"

विरहिणी कृष्ण-भक्ता आण्डाल

श्रीशिवशंकरत्रिपाठी

दक्षिण भक्तिसरिताकी दो धाराएं पृथक् पृथक् क्रमशः शिव और विष्णुकी उपासना परक हैं। विष्णुके भक्त आलवारके नामसे प्रसिद्ध हैं। आलवारोंकी रचनाओंका संग्रह 'नालियार प्रबन्धम्'के नामसे ख्यात है। इस महाग्रंथका प्रत्येक प्रकरण अथवा अध्याय "तिरुअन्तादि" कहा जाता है। इनके रचयिताओंमें क्रमशः कांचीपुरम्के 'पोयगे आलवार", महाबलिपुरम्के 'पूदत्तालवार', मइलापुरम्के 'पेयालवार' थे। इन आलवारोंके सम्बन्धमें एक किंवदंती प्रचलित है:—"मद्राससे लगभग डेढ़सौ मील दक्षिण-पश्चिममें "तिरुकोविलूर' नामक एक तीर्थ है। पोयगेआलवार एक दिन इस तीर्थमें जा रहे थे। भीषण वर्षा होने लगी। तब तक वे एक छोटीसी पर्णिकामें पहुंच गये। वह बड़ी ही छोटी थी, उसमें वे लेट गये। तभी एक दूसरे सज्जनभी पहुंचे, पूछनेपर मालूम हुआकि वे पूदत्तालवार थे। स्थानाभावके कारण दोनों बैठे रहे और बैठे ही बैठे दोनों परस्पर भगवत् चर्चा करने लगे। इसी बीच एक तीसरे सज्जन भी आ गये। तीसरे जन पेयालवार थे। अब तीनों खड़े हो

गये। तीनोंकेतीनों अब भगवत् चर्चामें लीन हो गये। वृष्टि कम नहीं हो रही थी। अचानक उस स्थानपर एक अलौकिक ज्योति दिखायी पड़ी। उस भगवान् विष्णुकी ज्योतिके स्वरूप विष्णुके तीनोंने दर्शन किये। दर्शनसे उन्हें अपार आनन्दकी प्राप्ति हुई। उस अपार आनन्द में विभोर होकर उन तीनोंने सौ-सौ गीतोंमें विष्णुकी स्तुति की। ये गीत ही तिरुवन्तादि कहलाये।

पेयालवार रामनाथपुरम्के श्रीविल्लिपुत्तूरके निवासी थे। उन्हें वट्टरपिरान्, ब्राह्मण महाराज, और विष्णुसिद्दरके नामसे भी पुकारा जाता था। उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण थे। उनका कार्य था भगवान्—अपने आराध्यदेवको पूमाले-पुष्पहार और पामालै-काव्योपहार चढ़ाना। एक दिन वे जब अपनी पुष्पवाटिकामें पुष्प चयन करने पहुँचे तो किनारेकी वापी के तटपर एक शिशु पड़ा दीखा। वह उसे उठाकर ले आए। घरमें भलीभाँति उसका पालनपोषण किया। यही आगे चलकर 'आंडाल'के नामसे ख्यात आलवार हुई। आंडालके विषयमें प्रसिद्ध है:—"पाडि कोडुत्तालनपाभालै पूमालै, शूडि कोडुत्ताले कोल्लु।" अर्थात् कविताएं गाकर और पुष्पमाल पहिनकर भगवान्को अर्पित करनेवाली नायिका।

आंडालका पूर्व नाम कोदै था। कोदै जब विष्णु भगवान्केलिए माला गूंथकर तैयार करती तो सर्वप्रथम उसे अपने गलेमें डालकर उसके साथ अपने सौन्दर्यको निरख लेती, फिर चढ़ानेकेलिए देती। यह क्रम उसका प्रतिदिन चलता। एक दिन उसके पिताजी को यह रहस्य मालूम हुआ। उन्होंने उसे अनेकानेक रोषयुक्त वचन कहे। पेयालवारने तुरंत दूसरा माल तैयार किया और भगवान्की सेवामें ले जाकर अर्पित करना चाहा। तुरन्त वाणी हुई—"मेरे लिए तो कोदैदेवी द्वारा पहिनाहुआ माला ही अधिक प्रिय है।" यह सुनकर पेयालवारको अपने कृत्यपर अत्यन्त क्षोभ हुआ। उन्होंने पुत्री कोदैसे क्षमायाचना भी की। उसी समय उन्होंने उसे "आंडाल" अर्थात् विजयिनीके नामसे सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः आगे चलकर 'आंडाल' समस्त वैष्णवभक्तोंके हृदयकी शासिका बन गयी।

आंडालके गीतोंमें 'तिरुप्पावै' तथा 'तिरुपोलि' प्रसिद्ध हैं। पहले तिरुप्पावै अपनी सरलता, सरसता, माधुर्य और गोपिकाभावोंकी अभिव्यक्तिके कारण अधिक लोकप्रिय हुए। 'तिरुपोलि' आंडालकी श्रीसूक्तियाँ हैं। तिरुप्पावैमें तीस और तिरुपोलिमें एक सौ तैंतालीस गीत हैं, इस प्रकार कुल एक सौ तिहत्तर गीतोंकी रचना आंडालने की। दक्षिणका प्रत्येक वैष्णव श्रीआंडालकी अर्चना करना तथा उनके गीतोंका गान करना अपना परम कर्त्तव्य और धर्म मानता है। क्योंकि आंडालके गीत भगवान्विष्णुको संतुष्ट करनेके आवश्यक सोपान हैं—

नाकत्तिनणैयानै नन्नुतलाल् नयन्तुरै चेय्,
मेघत्से वैकंटकक्कोन् विड्डूतूतिल विण्णप्पम्।
पोकत्ताल् वपुवात् पुतुवैयर कोन कोतै तमिष्
आकत्तु वैत्तुरैप्पार अवरिडिवार आकुवरै॥

परमभक्त पेयालवारकी पुत्री श्री आंडाल क्षीरशायी भगवान् श्रीरंगनाथके प्रति अत्यन्त आसक्त थी। उसी आसक्तिभावनासे प्रेरित होकर उस दिव्यरूप कन्याने मेघोंको दूत बनाकर अपने आराध्य, प्रियतमके पास कुछ सन्देश भेजा था। उस विष्णुप्रियादेवीकी यह विज्ञप्ति, जो सरस तमिलमें प्रकट हुई है, प्रत्येक वैष्णवभक्तकेलिये हृदयंगम करनेकी वस्तु है। जो भी भक्त आदरके साथ इन गीतोंको श्रद्धापूर्णभावोंसे प्रतिदिन गायेगा, वह भगवान् विष्णुका सच्चा भक्त कहा जायगा। भगवान् उस पर सन्तुष्ट होंगे।

आंडाल मीराकी भाँति भगवान्कृष्णके प्रेममें सर्वतोभावेन रमगयी थी। "नाच्चियार त्रिरुपोलि"में वह कामदेवसे प्रार्थना करती हुई कहती है:–"यदि मैं क्षीरशायी भगवान्के श्री-चरणोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा करती हुई कृतार्थ न हो सकी और हमारा जीवन कष्टतर बना रहा, तो हे अनंग तुम भी इस पापके भागी परम अपराधी बनोगे। अतः तुम जाकर भगवान् कृष्णसे मेरी ओरसे निवेदन करोः—

पलुदिनिप्पक्किकडरवरणनुक्के,
पणि सेटदु वालप्पेरविडिल नान्।
अलुदलुदलमन्दम्भावङ्गु,
अरिमुमदुवुनक्कुङ् कण्डाय ॥

वह अपने प्रियतम कृष्णके दर्शनसे वंचित रह विरह वेदनासे व्याकुलहृदय कभी आकाशमें उड़ते कोकिलसे, कभी आकाशचारी बादलोंसे, तो कभी बादलोंके अन्तरमें निवसनेवाली विद्युल्लतासे विनम्रनिवेदन करती है—

चंगमाकडत कडेन्तान् तत मुविलकाल् वैकंटत्तुव्
चेंकणमाल् चेवडिक् कीष अडिविषच्चि विरणप्पम्।
कोकैमेल् कुंकुमत्तिन् कुषम्पषियम् पुकुन्तु ओरुनाल्
तंकुमे लेन्नावि तंकुमेन्रुरैयीरै ॥

तिरुपतिधामके आसपास विचरण करनेवाले मेघो, तुम भगवान्से कहनाकि वह एक बार पधारकर मेरे अंगोंको अपने गाढ़ालिंगनसे तृप्त करके आनन्द-प्रदान करें, जिससे मेरे शरीरपर और वक्षपर हुआ लेप तो मिट जाय।

आंडालके गीतोंमें भगवान्के प्रति प्रकट सभी उद्गारोंमें निर्भयता, सरलता, तन्मयता और सरसताका समावेश है। इससे उसके निस्वार्थभावका भी सहज ही आभासहो जाता है। इस प्रकार वह अपने आराध्यके दर्शनोंकेलिए अहर्निशि व्याकुल एक विरहिणी है। विरहिणी नायिकाकी भाँति सन्तप्त वह बादलोंसे कहती है:—"मेरे प्रियतमसे कहना, इस प्रकार मेरे शरीर और मनको पीड़ित करके नारीत्व और नारीके अस्तित्वको क्यों

विनष्ट करना चाहते हैं ? इससे उनकी महिमामें रंचमात्रकी भी वृद्धि नहीं हो सकती।" फिर उनके साथ अपनी अभिन्नताका परिचय देती हुई कहती हैः—"जैसे तुम सबके अन्तर विद्युल्लता सदा निवसती है तथैव हमारे हृदयमें वह निवास करते हैं।" इसलिए मेरी तुम से विनम्र प्रार्थना है कि उनसे जाकर कहनाः—"मेरे बालस्तन गाढ़ालिंगनके लिए आतुर हो रहे हैं और शरीरकी कान्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही हैः—

कण्णीरकल मुलैक्कुवहिल्, तुलिसोर च सोरवेनै ,
पेण्णीमैयीडलिक्कुमिदु', तमक्कोर पेरुमये।

वेंकटाद्रिनाथका कोईभी सन्देश न प्राप्त होनेके कारण मेरे शरीरमें कामाग्निका प्रवेश हो रहा है, जिसके कारण वह झुलसने लगा है। मेरा मन मेरे बसमें नहीं रह गया है और नींद मेरा साथ छोड़ चुकी है। मेरे शरीरकी शोभामें परिवर्तन होता जारहा है। क्षीणकाया हो जानेके कारण अब मेरे हाथोंमें चूड़ियाँ नहीं टिकतीं।"

आंडाल लाल सिन्दूरके सदृश इन्द्रगोप कीटोंको देखकर अपने प्रियतमके रक्तिम अधरोंका स्मरण करने लगती है, वनवीथीमें विकसित पुष्पोंमें उनके मधुर मुसुकानके दर्शन करती है और उनसे कहती हैः—"हे रमणीय पुष्पों, तुम सभी परम पातकी हो तुम्हारा रंग प्रियतमके रंगका है—हे अतसीके पुष्पों, तुम प्रियतमकी शोभाका सादृश्य धारण करते हो, देख देखकर मेरे मनको अत्यन्त पीड़ा पहुँच रही है। अतः तुम सब कोई उपाय बताओ जिससे मैं इस अपार दुःखसागरके पार हो सकूँः—

पैम्पोलिलवाल कुयिलहाक् ओग्ग करुविलिकाल्
वक्पक्कङ्गनिहाक्वेणाप्, पूवै नरुमलरकाल् ।
एवपरुम पातकरकुल, अणिमालिरुम् सेलैनिन्
एम्पैरुमानुडैयनिरम् , उङ्गकुक्कन्सेय्वदे ॥

उद्यानोंमें भ्रमर करनेवाले हे भ्रमरदल, हे सुन्दर तालाब, हे सुगन्धित पुष्प तुमसब मेरे लिए साक्षात् यमराजके किंकर सदृश हो। मेरी विरह वेदना कम हो, तदर्थ कोई उपाय बताओ।" इसी प्रकार वह कोकिलसे कहती है—"हे कोकिल मैं अब अत्यन्त क्षीणकाया हो चुकी हूँ। मेरी आँखें प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णकी राह देखते-देखते नींद तकका त्यागकर चुकी हैं। मैं वस्तुतः विरहरूपी महासिंधुमें वैकुंठनाथरूपी नौकाके अभावमें भटक रही हूँ। अतः तुम मंगलमय भगवान्के तोषार्थ कुछ गाओ, जिससे वह आयें।" आंडालका प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति प्रयुक्त सम्बोधन देखियेः—"हृदयमें प्रवेश करके वेदना पहुँचाकर आनन्द प्राप्त करनेवाले—"उल्लम पुहुन्दु नैवित्तु, नालुमुयिर पेयदु कूत्ताट्टकाणुम्ः।" कितना मार्मिक

है। इसी प्रकार जब वह वर्षाकालमें मत्त मयूरोंको नृत्यमें लीन देखती है, तो उनसे नृत्य बन्द करनेकी प्रार्थना करती है:—

पाडुङ्गुयिलकाक् ईदेन्नपाडल्, नल् वेङ्ड नाडर
नभक्कोरु वाल्वु तन्दाल् वन्दु पाडुमिन् ।
आडुङ्करुककेडियुडैयार वन्दरुल सेय्दु ,
कूडुवरोयिल् कूविमुम्पाहुक्क्ल् केहुमे ॥

"हे मयूर तुम अपने इस सुन्दर नृत्यको बन्द करो और नृत्य तथा मधुर मदिर गान से मेरी विरह व्यथाको बढ़ाओ मत। यह तुम्हारा नृत्य रंच भी मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। फिर मेरे पास समय नहीं है कि इसे मैं भली प्रकारसे देख सकूँ। क्योंकि मेरे प्रियतम ने इससे पूर्वही घटनर्तन करके मेरा सर्वस्व हरण कर लिया है। ऐसी स्थितिमें तुम इस प्रकार नृत्य करके मेरे प्राणोंको कष्टित मत करो। यदि यह बन्द नहीं करना चाहते तो तुम भी महापातकी की कोटिमें गिने जाओगे।"

मीराकी भांति आंडाल अपने बन्धु-बान्धवोंसे स्पष्टरूपमें श्रीकृष्णके प्रेमकी बात बता देती है। वह अपने कुटुम्बीजनोंसे बार बार कहती है कि "अब लज्जित होनेका कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता, कारण मेरी इस दशाका आभास सभीको होगया है। यदि मेरा प्राण बचाना चाहते हो तो चलो मुझे व्रजमें छोड़ आओ। यदि ऐसा करना आप सबको स्वीकार नहीं होगा तो मैं स्वयं उनके पास चली जाऊंगी और कुटुम्बपर व्यर्थ ही में कलंक लग जायगा। अपनी मर्यादाकी रक्षामें दत्तचित्त आप सब ले चलकर उस छेड़छाड़ और अन्ध-धूर्ततापूर्ण क्रियाकलापवाले नन्दगोपसुतके पास छोड़ आओ।" उसके इस कथनपर जब लोग कृष्णको माखनचोर आदि संज्ञाओंसे सम्बोधित करके उसका ध्यान हटाना चाहते हैं तो वह कहती है—"आप लोग व्यर्थ उनकी निन्दा न करें, इससे पापका भागी बनना पड़ेगा। ऊखल में बँधना और नवनीत आदि चुराना तो ठीक है, पर मैं तो गोबर्द्धनधारी और गौरक्षक श्रीकृष्णके पास पहुँचना चाहती हूँ।" जब उसकी प्रार्थनाको कोईभी नहीं स्वीकार करतातो वह पुनः मेघोंसे कहती है:—"जाकर उनसे कहो, उनके ध्यानमें निरन्तर रहनेवाली मुझ असहायाका क्या सर्वनाश कर डालेंगे? यदि उन्हें यही अभीष्ट है तो ठीक है, उनकी भक्त-वत्सलताकी मर्यादा भी नष्ट हो जायगी। इसलिए उन्हें चाहिए कि कमसेकम एक बार आकर दर्शन दें:—

कारकालत्तेपुकिं कार मुक्लिकाल वेंकटन्तुप् ,
पोर कालत्तेपुन्तरुलिप् पोरुतवनार पेर् चोल्लि ।
नीरकालत् तेरुक्विलम् पषविलै पोल् बीषवैने,
वार कालत् तोरुनाल् तम् वाचकम् तन्तरुलारे ॥

वर्षाकालमें वेंकटगिरिपर वर्षण करनेवाले हे मेघों, असुरोंके साथ समर करके उनको पराजित करनेवाले भगवान्‌के नामोंका निरन्तर मैं स्मरण करती हुई किस प्रकार उनके दर्शनकी लालसा-आशामें जीवन व्यतीत कर रही हूँ तथापि उनके विरहमें शरीर क्षीण होता जा रहा है, ठीक उसी प्रकार जैसे जलवर्षणके कारण आकके पत्ते गिरने लगते हैं। मेरे इस चिरकालीन व्यथाकी कथा उनसे जाकर कहो और आग्रहपुर्वक निवेदन करो कि वह एक बार आकर सान्त्वना तो दे जांय।"

कितना मार्मिक और सरस निवेदन है।

अनन्य गोपीभाव

पृथ्वीके भाग्यवान् निवासियो! क्षीरसमुद्रमें शेषकी शय्यापर पौढ़े हुए सर्वेश्वरके चरणोंकी महिमाका गान करती हुई हम अपने व्रतकी पूर्तिके लिए क्या-क्या करेंगी—यह सुनो! हम पौ फटनेपर स्नान करेंगी। घी और दूधका परित्याग कर देंगी। नेत्रोंमें अंजन नहीं देंगी। बालोंको फूलोंसे नहीं सजायेंगी। कोई अशोभन कार्य नहीं करेंगी। अशुभवाणी नहीं बोलेंगी, गरीबोंको दान देंगी, और बड़े भावसे इसी सरणिका चिन्तन करेंगी।

गौओंके पीछे हम वनमें जाती हैं और वहीं छाक खाती हैं— हम गंवार ग्वालिनें जो ठहरीं। किन्तु हमारा कितना बड़ा भाग्य है कि तुमने भी हम ग्वालोंके यहाँ ही जन्म लिया—तुम गोपाल कहलाये। प्यारे गोविन्द, तुम पूर्णकाम हो; फिर भी तुम्हारे साथ हमारा जो जाति और कुलका सम्बन्ध है, वह कभी धोये नहीं मिटेगा। यदि हम दुलारके कारण तुम्हें छोटे नामोंसे पुकारते हैं,—कन्हैयाँ या कनू, कहकर सम्बोधित करते हैं तो कृपा करके हम पर रुष्ट न होना, अच्छा! क्योंकि हम तो निरी अबोध बालिकाएं हैं। क्या तुम हमारे वस्त्र नहीं लौटाओगे?

प्यारे! क्या तुम हमारा वह मनोरथ जानना चाहते हो, जिसके लिए हम बड़े सवेरे तुम्हारी वन्दना करने और तुम्हारे चरणारविन्दोंकी महिमाका गान करने तुम्हारे द्वार पर आती हैं। गोप-वंशमें उत्पन्न होकर भी तुम हमारी ओर से मुख मोड़ लो, सेवाकी भावनासे आई हुई हम दासियोंका प्रत्याख्यान करदो-यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है। हम आजकी तुम्हारी चेरी थोड़े ही हैं। प्यारे गोविन्द! हम तो तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हैं। एकमात्र तुम्हीं हमारे सेव्य—हमारे भरतार हो। कृपा करके हमारी अन्य आसक्तियों, अन्य सारे स्नेह-बन्धनोंको काट डालो।

अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं आता? वह मेरे हृदयमें प्रवेश कर मुझे अपने वियोगसे दुखी कर रहा है। मैं तो उसके लिए इस प्रकार तड़प रही हूँ और उसके लिए यह सब मानो निरा खिलवाड़ है।

—आंडाल

मानवहृदयकी परमोज्वलवृत्ति—श्रद्धाका एक चित्र

"श्रद्धा मानवहृदयकी परमोज्वल वृत्ति है। मनुष्यके हृदयमें जितनी और जिस रूपमें श्रद्धा उत्पन्न होती है, उतनी ही और उसी रूप में वह सफलता भी प्राप्त करता है। लौकिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मनुष्य अपने हृदय की श्रद्धासे परमात्माको भी अपने वशमें कर लेता है।"

भक्तिकी वात्सल्यमयी जननी—श्रद्धा

श्रीहरदत्त जोशी विशारद

आध्यात्मिक जगत्में श्रद्धा बिना साधकका किसी मार्ग में भी प्रवेश करना दुर्लभ है—भक्तिमार्ग हो, चाहे ज्ञान, श्रद्धालु होना दोनोंमें वांछित है। भक्ति-पथमें तो श्रद्धा ही सर्वोपरि है। इसके बिना साधन ही नहीं बन सकता। श्रद्धा भी अचल हो, अस्थिरता से किसी भी साधनमें सफलता प्राप्त नहीं होसकती। अचल श्रद्धा-विश्वाससे ही संसारकी सम्पूर्ण कामनाएं सिद्ध होती हैं। श्री भगवान्‌को भी परमश्रद्धावान् ही मान्य है :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लवलीन अन्तरात्मासे मुझे निरन्तर भजता है, वही मुझे परम मान्य है।

षट्सम्पत्तिवान् पूर्णज्ञानी भी श्रद्धा-विश्वासके बिना हृदय-स्थित भगवान्का दर्शन करनेमें असमर्थ रहते हैं। भक्तशिरोमणि गोस्वामीजीने अपने इस श्लोक में :—

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्या बिना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तस्थमीश्वरम्॥

"अपने ग्रन्थका तात्पर्य ही बतला दिया है। रामचरितमानस श्रद्धाके दृष्टान्तों से परिपूर्ण है। इस विषयके ज्वलन्त उदाहरणस्वरूप राक्षसराज रावण ही को लीजिये। रावण पूर्ण विद्वान्, प्रचंड तपस्वी और विलक्षण शक्तिशाली था। उसकी पत्नी मंदोदरी, भाई विभीषण और मंत्री माल्यवान् आदि सबने उसे अनेक प्रकारसे समझाया, पर श्रीरामावतारमें उसकी श्रद्धा नाममात्रकी भी न हुई। वह सदैव श्रीरामको तपस्वी और राजाका लड़का ही संबोधित करता था। रावणके प्रति श्रीहनूमान और अंगदजी के मर्म-स्पर्शी भाषण भी उसके श्रद्धाहीन हृदयको प्रभावित न कर सके। परिणाम यह हुआ कि रावण 'रामरावण' युद्धमें समूल नष्ट हुआ।

सतीमें भी अश्रद्धालुताका अंकुर उत्पन्न होगया था। अगस्त मुनिके सत्संगके पश्चात् जब वे अपने पति देवाधिदेव श्रीमहादेवजीके साथ अपने भवनको जा रही थीं तो श्रीसीताजी के विरहमें विलाप करते हुए उदासीन श्रीरामको देखकर सतीजीकी रामावतारमें अश्रद्धा होगयी। उन्होंने अपने पतिके वचनको भी न मानकर सीताजीका रूप धारणकर, श्रीराम की परीक्षा ली। पर प्रत्यक्ष प्रभाव देख लज्जित होकर लौट आईं। पतिवंचना तथा अश्रद्धाके कारण द्वितीय जन्म धारणकर कठोर तपस्याके पश्चात् पुनः शंकरजीकी पतिदेव के रूपमें सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ। फिर श्रीमहादेवजीके मुखारबिन्दसे रामचरित मानस कहलाकर जगत्में वन्दनीय हुईं।

गरुड़जीको भी रामावतारमें अश्रद्धा हो गई थी। मेघनादके युद्धमें नागफांसमें फँसे समस्त रामदल और श्रीरामको देखकर उनकी श्रद्धा चलायमान होगई। वे संदेह निवारणार्थ देवर्षि नारद और ब्रह्माजीके समीप गये। कष्टसाध्य रोगी समझकर उन्होंने श्री गरुड़जीको श्रीमहादेवजीके समीप भेजा। "खग जाने खग ही की भाषा" इस सिद्धान्तपर श्री शंकरजी ने इनको कागभुशंडिजी के पास भेजा। कागभुशंडिजी के परम शांतिमय सत्संगसे उनका मोह नष्ट हुआ, और अश्रद्धा जाती रही। उन्होंने श्रीराम रहस्यसे परिचित होकर भक्तिके सम्मुख सिर नवाया।

श्रद्धाभाव हृदयसे उदय होता है, जिसमें सर्वान्तर्यामी भगवान् विराजमान रहते हैं। श्रद्धा भाव दैवाधीन है। श्रीमद्भगवत् गीता में भगवान् ने कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैवन विहितान्हि तान् ॥

—जो भक्त जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, मैं उस भक्तकी उसी स्वरूपके प्रति श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ। वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस स्वरूपके पूजनकी चेष्टा करता है । उससे वह मेरे द्वारा निर्धारित इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है ।

वड़ोंकेप्रति आदरभाव प्रदर्शित करना श्रद्धा है। श्रीमद्भागवत्में जरासन्ध नामक महान् शक्तिशाली राजाकी कथा है। कंस जरासन्धका जामातृ था। भगवान् श्रीकृष्णद्वारा अपने जामातृका वध देखकर भी उसकी श्रद्धा कृष्णावतारमें न रही। उसने असंख्य सेना लेकर मथुरापर चढ़ाईकी और श्रीभगवानका तिरस्कार करते हुए कहा :—

"हे मन्दबुद्धे ! तुझ अकेले बालककेसाथ मैं लज्जाके कारण युद्ध करनेकी इच्छा नहीं करता हूं। इसलिए तू पीछे लौटजा । हे बलराम ! तुझे यदि मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छाहो तो युद्धकर, मेरे बाणोंसे छिन्नभिन्न शरीरको त्याग कर स्वर्गको जा अथवा बलवान्हो तो मेरा वध कर ।

श्रीभगवान्को तो बालक कहकर जरासन्धने उनके साथ युद्ध भी करना अस्वीकार कर दिया। भगवान् भी यही चाहते थे, कि अकेले जरासन्धके वधसे क्या होगा ! असंख्य आसुरी सेनाका संहार तो शेष ही रह जायगा, जिसकेलिये उन्होंने अवतार धारण किया था। भगवान् ने १७ बार जरासन्धको घमासान युद्धोंमें पराजित किया। १८ वें बार वे स्वयं, उसके विनाशकेलिए ही पीछे हट गए ।

शिशुपाल भी कृष्णावतारका विरोधी था, महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें जब कृष्णभगवान् सर्वप्रथम पूजनके अधिकारी निश्चित् किये गये, तो शिशुपाल परमक्रुद्ध हो उठा और श्रीकृष्णके प्रति कह उठा :—

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्म बहिष्कृतः ।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥

वर्णाश्रम और कुलसेभ्रष्ट, सकलधर्मोंसे निकाला हुआ, यथेष्ट आचरण न करनेवाला और गुणहीन यह कृष्ण पूजाके योग्य कैसे हो सकता है ?

अभिप्राय यह है कि संसारकी असम्भव बातें भी चाहें सम्भव होजाएँ, पर श्रद्धाके बिना भक्ति असम्भव है। जब तक श्रद्धा नहीं, भगवान् भी नहीं। श्रद्धालुकेही भगवान् हैं।

•••○○•••

श्रीकृष्ण जन्मस्थान—श्रीहरिदास संगीत महोत्सव

श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके रंगमंच पर आये दिन मानवी श्रद्धा,भक्ति और प्रेम साकार-रूपमें अभिनय और नृत्य किया ही करता है। कभी कथा, कभी कीर्तन, कभी लीला और कभी जयंती महोत्सव। देखने ही योग्य होता है वह दृश्य, जब कभी मानवी श्रद्धा श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके रंगमंचपर सजकर उतरती है। एक तो श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानका रंगमंच और दूसरे मनुष्यकी पावन श्रद्धा। श्रीकृष्ण जन्मस्थानपर शत शत दिव्य लोकों की शोभा उतर आती है, जिसे देखनेके लिए मथुराके ही नहीं, संपूर्ण व्रजप्रदेशके नर नारी प्रवाहकी भाँति उमड़ पड़ते हैं।

विगत २५ नवम्बरकी वह रात्रि ! क्या कभी भुलाये भूल सकती है ! व्रजके सुप्रसिद्ध रासरस-सिद्ध संत स्वामी हरिदासजीकी पावन जयन्तीके उपलक्ष्य में हरिदास संगीत महोत्सव का आयोजन था। श्रीकृष्ण जन्म-स्थानका रंगमंच रह-रह कर आह्लाद से विभोर हो रहा था। उसके लिए यह बड़े हर्ष और आनन्दकी बात थी कि भग-वान् श्रीकृष्णके एक अनन्य प्रेमीकी जयंतीके उपलक्ष्यमें देशके बड़े-बड़े कलाकार आज भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अपनी श्रद्धा बिखेरने के लिए एकत्र हुए हैं। सचमुच रंगमंच पर 'श्रद्धा' साकार हो उठी थी। 'रंगमंच'के अन्तर्मनकी श्रद्धा और रंगमंचपर एकत्र कलाकारोंके मनकी उमड़ती हुई श्रद्धा ! दोनोंने मिलकर जाह्नवीका रूप धारण कर लिया था और उस जाह्नवीकी तरंगों में, उत्कंठित नर-नारी डुबकियाँ लगा-लगाकर आनन्द विभोर हो रहे थे।

रंगमंचपर भारतके श्रेष्ठतर कलाकार विराजमान थे। पद्मभूषण उस्ताद बिसमिल्लाहखां, श्रीमती निर्मला अरुण, श्रीमती उर्मिला विष्णु नागर,कु०पूनम, श्रीनन्दलाल घोष, श्रीसत्यभान शर्मा, श्रीलक्ष्मणप्रसाद चौबे, श्रीबाबूलाल पखावजी, श्री शारदासहाय और श्रीगुलाममुस्तफा आदि अपनी-अपनी कलाकी विशिष्टताओंके कारण दर्शकोंके नयनों और श्रवणोंकी उत्कण्ठाके केन्द्र बने हुए थे।

संगीत महोत्सवकी अध्यक्षता गोस्वामी रणछोड़जीने की। उन्होंने अपने संक्षिप्त भाषणमें भारतीय संगीतकी महत्ता पर प्रकाश डाला और 'ब्रह्म' तक पहुंचनेके लिए संगीत-साधनके साफल्यको प्रमाणित किया। अध्यक्षीय भाषणके पश्चात् ही श्रीनन्द-

लाल घोषका सरोद मुखरित हो उठा। स्वर गंगाकी लहरें उमड़ने लगीं और कुछ ही क्षणोंमें उमड़कर एकत्र नर-नारियोंके हृदयपर छा गईं। बाल कलाकार कुमारी पूनम के पैरोंकी थिरकनने तो दर्शकोंको मन्त्र-मुग्ध सा कर लिया। थिरकते हुए पैर, पैरोंमें बँधे हुए घुंघुरू, और करोंका भाव प्रदर्शन! यह सब ऐसा लग रहा था, मानों साक्षात् कला ही है, जो रंगमंचपर उतर आई है और श्रीकृष्णके चरणोंपर प्राणपणसे अपनेको लुटा रही हो। कहना ही होगा कि श्रीमती निर्मला अरुणने पूनम के पैरों के घुंघुरुओंको वाणी प्रदान की। श्रीमती निर्मलाके कलित कंठ से पूत स्वरोंमें बँधी हुई स्वर लहरी जब निकलने लगी, तो ऐसा ज्ञात हुआ, मानों श्रीकृष्ण जन्मस्थानके रंगमंच से स्वर्ग तक रजत की निसेनी बनती जा रही हो। तभी तो 'एक' के समाप्त होते ही एकत्र जनता की ओर से "और और" की ध्वनि निकलकर गूंज उठती थी। लगता था, मानों सचमुच एकत्र जन-समूह पावन शब्दोंकी निसेनीपर चढ़ कर 'ब्रह्म' तक पहुंच जानेके लिए समाकुल हो उठा हो। श्रीमती उर्मिला नागरने बहती हुई स्वर-लहरीको अपने कत्थक नृत्यमें समेटसा लिया। केवल स्वर-लहरी ही नहीं बँधी, प्राण-प्राण बँध गए और हृदय-हृदय बँध गए। एकत्र जनवर्ग 'तन्मय' हो उठा, सब कुछ भूलकर 'तद्वत्' बन गया। श्रीमती उर्मिला नागरके नृत्य और उनकी शास्त्रीय व्याख्याओंने प्राण-प्राणपर उनकी 'कला' को बिठा दिया।

पर एकत्र जनवर्ग की श्रवणेन्द्रियां कुछ और ही सुनने के लिए व्यग्र सी हो रही थीं। वह कुछ और पद्मभूषण उस्ताद बिसमिल्लाहखांकी शहनाई थी। बिसमिल्लाहखां ने अपनी शहनाई में फूंक मारी नहीं कि वायुमण्डल करतल-स्वरोंसे गूंज उठा। करतल-स्वरों के साथ ही साथ शहनाई की स्वर लहरी भी गूंज उठी, मधुर स्वर लहरी, संगीतमय स्वर लहरी। एकत्र जनवर्ग बेसुध सा होकर बह उठा उस प्रवाह में! निशा के सन्नाटेमें स्वर की तरंगें प्राणों को बांध-बांध कर श्री कृष्णकी ओर ले जाने लगी। युगके प्रभाव से प्रभावित कुछ प्राणों ने उस ओर जानेमें हिचकिचाहट प्रगट की. पर उस्ताद बिस-मिल्लाहखांने उन्हें डांटा, और उन अभागोंको भी उन्होंने श्रीकृष्णके चरणोंतक पहुंचा ही दिया। बिसमिल्लाहखां की 'शहनाई' और उनकी पूत भावनाकी जितनी अधिक सरा-हना की जाय थोड़ी है।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुप्रसिद्ध नर्तक श्रीगोपीकृष्ण (नटराज) का भी शुभागमन श्रीकृष्ण जन्मस्थानपर हुआ। उन्होंने भावविभोर होकर दर्शक-पंजिकामें अपनी सम्मति लिखी, अपनी नृत्य मुद्रामें भगवान् कृष्णके बाल विग्रह का पुनीत दर्शन किया।

कहना ही होगा कि स्वामी हरिदासजीकी अमर आत्मा इन कलाकारोंकी भावना-मयी संगीत श्रद्धांजलियोंसे तृप्त हो उठी होगी और तृप्त हो उठे होंगे उनके वे आराध्यदेव, जिनके जन्मस्थानके रंगमंचपर यह पवित्र आयोजन हुआ था।

सुप्रसिद्ध
कलाकारों
द्वारा
श्रीकृष्ण-
चरणोंमें
श्रद्धा
समर्पण

पद्मभूषण बिस्मिल्ला खां शहनाई-वादन कर रहे हैं।
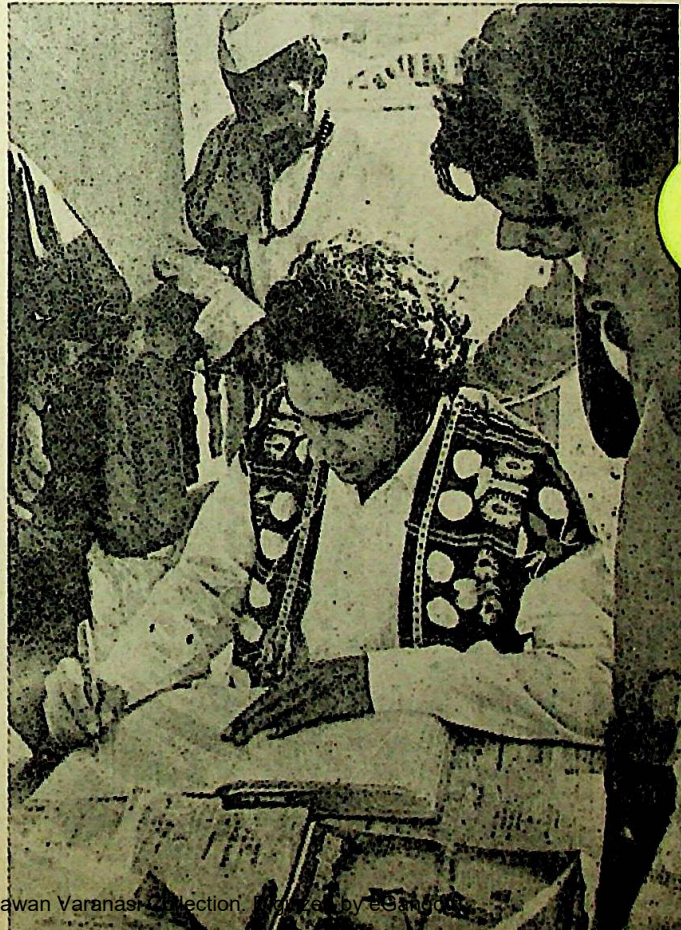
नटराज गोपीकृष्ण दर्शक-पंजिकामें अपनी श्रद्धांजलि अंकित कर रहे हैं।

पंजीयत सं० एल-८२७

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिये देवधर शर्मा द्वारा मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरामें मुद्रित तथा प्रकाशित। आवरण मुद्रक : राधाप्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१